व्याख्याकार —
मरुधर केसरी प्रवर्तक
मुनिश्री मिश्रीमल जी

परिष्कर्ता एवं सत्सान्निधि:
आचार्य: श्रीनानेश:

वान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मविपाक नामक

कर्मग्रन्थ [प्रथम भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

संपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

श्रीमरुधर केसरी साहित्यमाला का २५वां पुष्प

पुस्तक : कर्मग्रन्थ [प्रथम भाग]

सम्प्रेरक : विद्याविनोदी श्री सुकन मुनि जी

प्रकाशक : श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार
ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीरनिर्वाण सं० २५००
[२५वीं निर्वाण शताब्दी वर्ष]
वि० सं० २०३१ कार्तिक पूनम
ई० सन् १९७४ नवम्बर

मुद्रक : श्रीचंद सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–४

मूल्य : १०) दस रुपये मात्र

सम्पादकीय

जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्म सिद्धान्त ।' यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा । और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्‌घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त ।' इसलिये जैन दर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है ।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ (भाग १ से ६) अपना विशिष्ट महत्व रखता है । जैन साहित्य में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । तत्त्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थ को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं ।

कर्मग्रन्थ की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं । इसके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं । हिन्दी में कर्मग्रन्थ का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्‌वद वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने । उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है । पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है । कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थ का आधुनिक शैली में सरल विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए । उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ । विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया । श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया ।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन कर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलाल जी के ग्रन्थों का मुझे सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ— यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और, हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

श्रीचन्द सुराना

गुरुदेव मरुधर केसरी प्रवर्तक
मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एवं दर्शन से सम्वन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही हैं। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रन्थ हैं। इसके छह भागों में जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देव कुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान जोधराजजी सुराना ने उदार अर्थ सहयोग प्रदान कर हमारा उत्साह बढ़ाया है। हम सभी विद्वानों, मुनिवरों, एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमशः छहों भागों में हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे।

विनीत

मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आ मु ख

जैनदर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र में पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है। **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**— भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्व वैचित्र्य एवं सुख-दुख का कारण जहां ईश्वर को माना है, वहां जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एवं विश्व वैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्ति संपन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यंत गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्म सिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूंथा है, जो कंठस्थ करने पर साधारण तत्त्व जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्म सिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवन्द्रसूरि रचित इसके छह भाग अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएं भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं व कार्यक्रमों का आयोजन! व्यस्त जीवन में भी आप १०-१२ घंटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि

कार्यों का दयित्त्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सपर्क में हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। यह प्रथम भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

श्रीमान जोधराज जी सुराना

परिचय

सोजतसिटी के निवासी श्रीमान् जेंवतराज जी सुराणा के सुपुत्र श्री हीराचन्द जी तथा उनके सुपुत्र श्री बछराज जी सुराणा थे। उनके पाँच पुत्रों में बड़े पुत्र श्री जोधराज जी साहब सुराणा हैं। आपका जन्म सं० १९८५ के फाल्गुन कृष्णा ९ को हुआ। आप प्रकृति के बड़े सरल, विनीत, जन सहयोगी और दयालु स्वभाव के हैं। आपने अपने हाथों से सैलम (तामिलनाडु) में जाकर कारोबार बढ़ाया और लक्ष्मी उपार्जन की। जिसका समय-समय पर आपने अनेक सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में सदुपयोग किया है और कर रहे हैं। भाइयों के साथ भी प्रेम पूर्ण व्यवहार है। मातृभक्ति के लिये भी आप प्रसिद्ध हैं। गुरुदेव की आज्ञा भी पूर्ण प्रेम से ग्रहण करते हैं। आपने स्कूल, छात्रालय, औषधालय तथा साहित्य प्रकाशन में काफी सहयोग दिया है। सैलम में दुष्काल के समय में भी आपने मनुष्यों व पशुओं की सेवा काफी अच्छे ढंग से की है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पारवती बाई भी गृह कार्य में निपुण, श्रद्धालु, सुशील एवं बड़े श्रेष्ठ स्वभाव की हैं और धर्म भावना में हरदम तैयार रहती हैं।

आप पाली चातुर्मास में पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी पं० रत्न मुनि श्री १००८ श्री मिश्रीमल जी म० सा० की सेवा में आये। तहेदिल से सेवा की और दर्शन की खुशाली में श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति जोधपुर-ब्यावर के द्वारा श्री कर्मग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है—उसमें प्रथम भाग के प्रकाशन का समग्र भार आपने लिया है। सौभाग्य से आपकी माता जी भी विद्यमान हैं और आपके भ्राता सर्वश्री सम्पतराज जी, शुभराज जी, मदनराज जी, डूंगरमल जी आदि भी बड़े सुयोग्य और बड़े भ्राता के अनुशासन में चलते हैं। आपका कारोबार सोजत-पाली व सैलम (तामिलनाडु) में है।

श्रीमान् सुराणा जी ने जिस तरह उदार वृत्ति से लाभ लिया है, वैसे ही सदैव लेते रहें और यशस्वी बनें—यही शासनेश से प्रार्थना है ।

सैलम (तामिलनाडु) में सुराणा जी का कारोबार निम्न नाम से है :—

Tel : SWASTIK
Phone Office : 3548
Godown : 4178

SHAH MADANRAJ-SUBHRAJ
Dealers in
Sago, Starch & Tapioca Products
Merchants and Commission Agents
43/367, Police Patrol Road
Shevapet, Salem-2

Tel. : SOJATWALA
Phone Office : 3548
Godown : 4178

SWASTIK TRADING COMPANY
Dealers in
Sago, Starch & Tapioca Products
Merchants and Commission Agents
6, Police Patrol Road
Shevapet Salem-2

विनीत
मानमल चोरड़िया
मन्त्री
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
जोधपुर, ब्यावर

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना [पृष्ठ १७ से ७६]

पृष्ठ

परिशिष्ट

प्र स्ता व ना

कर्मसिद्धान्त का पर्यालोचन

जगत् के मूल पदार्थ

दृश्यमान जगत् में दो प्रकार के पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों का अपना-अपना अस्तित्व, गुण-धर्म और निजी प्रक्रिया है। उनमें से एक प्रकार के पदार्थ तो वे हैं, जिनमें इच्छाएँ हैं, भावनाएँ हैं, ज्ञान है एवं सुख-दुख का संवेदन होता है और दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनमें प्रथम प्रकार के बताये गये पदार्थों की कोई प्रक्रिया नहीं होती है। विज्ञान की भाषा में प्रथम प्रकार के पदार्थों को सचेतन (जीव) और दूसरे प्रकार के पदार्थों को अचेतन (अजीव, जड़, भौतिक) कहा जाता है।

प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता से दोनों प्रकार के पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सम्भवत: नामों में विभिन्नता हो सकती है। जैन दर्शन में सचेतन पदार्थों के लिए जीव, आत्मा या चेतन और अचेतन पदार्थों के लिए अजीव कहा है। जीव की-क्रिया में जीव स्वयं भावात्मक और क्रियात्मक पुरुषार्थ करता है, जबकि अजीव पदार्थों की क्रिया प्रकृति से होती रहती है। उनकी क्रिया में उनका अपना निजी पुरुषार्थ या प्रयत्न नहीं होता है। यही अन्तर उन दोनों को पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है।

विकार का कारण

प्रत्येक पदार्थ के जब अपने-अपने गुण-धर्म हैं, तब फिर इनमें विकार, विभिन्नता और विचित्रता दिखने का कारण क्या है? हम अजीव अथवा अजीव-मिश्रित जीव को ही देखते हैं। दोनों का शुद्ध रूप तो हमें दृष्टिगोचर नहीं होता है। यह एक प्रश्न है, जिसका प्रत्येक तत्त्वचिन्तक ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

प्रत्येक पदार्थ का निजी स्वभाव और उससे मेल खाने वाली क्रिया तथा समान गुण-धर्म वाला पदार्थ सजातीय कहलाता है तथा उस पदार्थ के स्वभाव से भिन्न या विपरीत स्वभाव, क्रिया वाला पदार्थ विजातीय कहा जाता है। जब समान गुण-धर्म वाले पदार्थों का संयोग होता है, तब कोई विकार पैदा नहीं होता, परन्तु विरुद्ध गुण-धर्म वाले पदार्थों के मिलते ही उनमें विकार पैदा हो जाता है और वे विकृत कहलाते हैं। विज्ञान और चिकित्साशास्त्र द्वारा यह स्पष्टतः देखा जा सकता है। विजातीय पदार्थ के संयोग से होने वाली क्रिया की प्रतिक्रिया सहज में ही दिखलाई देती है।

निर्जीव पदार्थों में भी विजातीय द्रव्य के मिलने से विकार तो उत्पन्न होता है, परन्तु वे अपनी ओर से प्रतिक्रिया करने का यत्न नहीं करते हैं। उनकी क्रिया प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होती रहती है, परन्तु सजीव द्रव्य में यह विशेषता है कि वह विजातीय पदार्थ का संयोग करते हुए भी उस विजातीय द्रव्य के संयोग को सहन नहीं करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपने संयोग से सचेतन-सी बनी हुई इन्द्रियों आदि के संयोग में आई हुई विजातीय वस्तुओं को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर देता है और जब तक वह विजातीय पदार्थ दूर नहीं हो जाता, तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि सजीव विजातीय द्रव्य के संयोग से विकार ग्रस्त होता है और विजातीय द्रव्य का संयोग ही विकार का जनक है।

इस कथन का सैद्धान्तिक फलितार्थ यह है कि जीव के लिए अजीव विजातीय पदार्थ है और जब जीव के साथ अजीव का संयोग होता है तो जीव में विकार उत्पन्न होता है। जीव के साथ अजीव का संयोग और तज्जन्य कार्य को दार्शनिक शब्दों में कर्म या इसके समानार्थक शब्दों में कह सकते हैं।

कर्म शब्द के वाचक विभिन्न शब्द

कर्म-सिद्धान्त का विवेचन करने से पूर्व विभिन्न दर्शनों (शास्त्रों) में उसके आशय को बतलाने वाले पर्यायवाची नामों को जान लेना उपयोगी है।

कर्म शब्द लोकव्यवहार और शास्त्र दोनों में व्यवहृत हुआ है। जन-साधारण अपने लौकिक व्यवहार में काम (कार्य), व्यापार, क्रिया आदि के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग करते हैं। शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में कर्म शब्द

का प्रयोग किया गया है। खाना, पीना, चलना आदि किसी भी हल-चल के लिए, चाहे वह जीव की हो या अजीव की हो—कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। कर्मकांडी मीमांसक यज्ञयागादिक क्रियाओं के अर्थ में, स्मार्त विद्वान् ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्तव्य (कर्म) के रूप में, पौराणिक व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, वैयाकरण कर्त्ता के व्यापार का फल जिस पर गिरता है, उसके अर्थ में और वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पाँच सांकेतिक कर्मों के अर्थ में तथा गीता में क्रिया, कर्तव्य, पुनर्भव कारणरूप अर्थ में कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ अथवा उस अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट संस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द मिलते हैं।

दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं, जो सब दर्शनों के लिए साधारण-से हैं, लेकिन माया, अविद्या और प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन में पाये जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन दर्शन में भाव कर्म कहते हैं।

'अपूर्व' शब्द मीमांसा दर्शन में मिलता है। यह दर्शन मानता है कि सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है, जिससे संसार परिचालित होता है। जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है, उसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है।

'वासना' शब्द बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्यों में से, दूसरे दुःख के कारणों के रूप में द्वादश निदानों को बतलाते हुए कहा है कि पूर्वजन्म की अन्तिम अवस्था में मनुष्य के पूर्ववर्ती सभी कर्मों का प्रभाव रहता है और कर्मों के अनुसार संस्कार बनते हैं। इन संस्कारों को वासना कहते हैं, जो क्रमशः चलती रहती है।

योगदर्शन में भी वासना शब्द का कर्म-पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। वहाँ ईश्वर का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश आदि के कारण से दुःख पाते हैं। वे भाँति-भाँति के कर्म करते हैं और उनके विपाक या फल स्वरूप सुख-दुःख भोग करते हैं। वे पूर्व जन्म के निहित संस्कारों से भी प्रभावित होते हैं। इन पूर्वजन्म के संस्कारों की परम्परा का दूसरा नाम वासना या कर्म है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन में आशय शब्द का भी उपयोग कर्म का अर्थ प्रतिपादन करने के लिए किया हुआ देखने में आता है। सांख्यदर्शन में भी आशय शब्द का प्रयोग मिलता है।

धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार इन शब्दों का प्रयोग, विशेषतया न्याय और वैशेषिक दर्शनों में पाया जाता है। सामान्यतया अन्य दर्शनों में भी इन शब्दों का प्रयोग देखने में आता है। जैनदर्शन द्वारा मान्य कर्म शब्द के अर्थ को यथास्थान आगे विशेष रूप से स्पष्ट करेंगे।

पुनर्जन्म को मानने वाले आत्मवादी दर्शनों को पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए कर्म को मानना ही पड़ता है। चाहे उन दर्शनों की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण या चेतन के स्वरूप में मत-भिन्नता होने के कारण कर्म का स्वरूप भिन्न-भिन्न मालूम पड़े, किन्तु इतना निश्चित है कि सभी आत्मवादियों ने पूर्वोक्त माया आदि शब्दों में से किसी-न-किसी नाम से कर्म को स्वीकार किया है।

कर्मविपाक के विषय में विभिन्न दर्शनों का मंतव्य

कर्म और कर्मफल का चिन्तन मानव-जीवन की साहजिक प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति यह देखना चाहता है कि वह जो कुछ भी करता है, उसका क्या फल होता है। इसी अनुभव के आधार पर वह यह भी निश्चित करता है कि किस फल की प्राप्ति के लिए उसे कौन-सा कार्य करना चाहिए। इस प्रकार मानवीय सभ्यता का समस्त ऐतिहासिक, सामाजिक व धार्मिक चिन्तन किसी-न-किसी रूप में कर्म व कर्मफल को अपना विचार-विषय बनाता चला आ रहा है।

कर्म और कर्मफल-सम्बन्धी चिन्तन की दृष्टि से संसार के सभी दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक वे दर्शन हैं जो कर्मफल-सम्बन्धी कारण-कार्य-परम्परा को इस जीवन तक ही चलने वाली मानते हैं। वे यह

विश्वास नहीं करते कि इस देह के विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यों की परम्परा आगे चलती है। ऐसी मान्यता वाले दर्शनों को भौतिकवादी कहा जाता है; क्योंकि उनके अनुसार जीवन-सम्बन्धी समस्त प्रवृत्तियां पंचभूतों के संयोग से प्राणी के गर्भ या जन्मकाल से प्रारम्भ होती हैं और आयु के अन्त में शरीर के विनष्ट हो जाने पर पुनः पंचभूतों में मिलने से उन प्रवृत्तियों का अवसान हो जाता है।

इसके विपरीत दूसरे प्रकार के वे दर्शन हैं, जो मानते हैं कि पंचभूतात्मक शरीर के भीतर एक अन्य तत्त्व—जीव या आत्मा विद्यमान है, जो अनादि और अनन्त है। उसका अनादिकालीन सांसारिक यात्रा के बीच किसी विशेप भौतिक शरीर को धारण करना और उसे त्यागना एक अवान्तर घटना मात्र है। आत्मा ही अपने भौतिक शरीर के साधन से नाना प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा नित्य नये संस्कार उत्पन्न करती है, उसके फलों को भोगती है और उसी के अनुसार एक योनि को छोड़कर दूसरी योनि में प्रवेश करती रहती है, जब तक कि वह विशेप क्रियाओं द्वारा अपने को शुद्ध कर इस जन्म-मरण रूप संसार से मुक्त होकर सिद्ध नहीं हो जाती है। ऐसी ही मुक्ति या सिद्धि प्राप्त करना मानव-जीवन का परम उद्देश्य है इस प्रकार की मान्यताओं को स्वीकार करने वाले दर्शन अध्यात्मवादी कहलाते हैं।

इन दोनों प्रकार की विचारधाराओं में से कुछ एक अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने कर्मफल-प्राप्ति के बारे में जीव को स्वतंत्र भोक्ता न होना तथा सृष्टि को अनादि न मानकर किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना है और उत्पत्ति के साथ विनाश का भी समय निश्चित करके उसकी उत्पत्ति और विनाश के लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया है। उनमें से कुछ एक का दृष्टिकोण इस प्रकार है।

न्यायदर्शन में कहा गया है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते हैं। ईश्वर जगत् का आदि सर्जक, पालक और संहारक है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता, वरन् नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से उसकी सृष्टि करता है। वह संसार का पोषक भी है, क्योंकि उसकी इच्छानुसार संसार कायम रहता है। वह संसार का

संहारक भी है। क्योंकि जब-जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए संसार के संहार की आवश्यकता पड़ती है, तब-तब वह संहार भी करता है। यद्यपि फल प्रदान हेतु ईश्वर को मनुष्य के पाप और पुण्य के अनुसार चलना पड़ता है; फिर भी वह सर्वशक्तिमान है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता तो है, लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट (अतीत कर्म) के अनुसार प्रेरित या प्रयोजित होकर कर्म करता है। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का कर्म-व्यवस्थापक है, उनके कर्म का फलदाता और सुख-दुख का निर्णायक है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि और संसार का कर्ता महेश्वर है। उसकी इच्छा से संसार की सृष्टि होती है और उसी की इच्छा से प्रलय होता है। वह जब चाहे उसकी इच्छा हो, तब संसार बन जाता है कि जिससे सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कर सकें और जब उसकी इच्छा होती है, तब वह उस जाल को समेट लेता है। यह सृष्टि और लय का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। सृष्टि का अर्थ है, पुरातन क्रम का ध्वंस कर नवीन का निर्माण करना। जीवों के प्राक्तन कर्म (पूर्व कृत पाप और पुण्य) को ध्यान में रखते हुए ईश्वर एक नव सृष्टि की रचना करता है। ब्रह्म या विश्वात्मा, जो अनन्त ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का भण्डार है, ब्रह्माण्ड के चक्र को इस प्रकार घुमाता है कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार जीवों को सुख-दुःख का भोग होता रहता है।

योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम जड़ जगत् का फैलाव माना है। योगदर्शन में ईश्वर परम पुरुष है, जो सभी जीवों से ऊपर और सभी दोषों से रहित है, वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और पूर्ण परमात्मा है। संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) आदि के कारण दुःख पाते हैं।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि होती है और दोनों के विच्छेद से प्रलय होता है। प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व हैं। दोनों का संयोग या वियोग स्वभावतः नहीं हो सकता है। इसके लिए एक ऐसा निमित्त कारण मानना पड़ता है जो अनन्त बुद्धिमान हो और जीवों के अदृष्ट के अनुसार प्रकृति से पुरुष का संयोग या वियोग करा सके। जीवात्मा या पुरुष स्वयं

अपना अदृष्ट नहीं जानता, इसलिए एक ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को मानना आवश्यक है, जो जीवों के अदृष्टानुसार संसार की रचना या संहार कर पुरुष प्रकृति का संयोग-वियोग कराता रहे। जो यह कार्य सम्पन्न करता है, वह ईश्वर है, जिसकी प्रेरणा के विना प्रकृति जगत् का उस रूप में विकास नहीं कर सकती, जो जीवों की आत्मोन्नति तथा मुक्ति के लिए अनुकूल हो।

वेदांत दर्शन में श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में उपनिषद् के आधार पर ब्रह्म को सृष्टि का कारण सिद्ध किया है। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन किया गया है, वह यद्यपि एक-जैसा नहीं है, परन्तु इस विषय में प्रायः सभी एकमत हैं कि आत्मा (ब्रह्म या सत्) ही जगत् का निमित्त और उपादान—दोनों ही कारण है। सृष्टि की आदि के विषय में अधिकांश उपनिषदों का मत कुछ इस प्रकार है कि सबसे पहले (आदि में) आत्मा मात्र था। उसमें संकल्प हुआ कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, मैं सृष्टि की रचना करूँ और इस सृष्टि की रचना हो गई। ब्रह्म इस सृष्टि का सृजन अपने में विद्यमान माया शक्ति से करता है।

इन सब परिकल्पनाओं के विपरीत जैनदर्शन जीवों से कर्मफल भोगवाने के लिए ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता है, क्योंकि जैसे जीव कर्म करने में स्वतंत्र है, वैसे ही उसका फल भोगने में भी स्वतंत्र है। यदि ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता माना जाये तो स्वयं जीव द्वारा कृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे। क्योंकि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या हमें सुखी कर सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कर्म करें तो क्या वह हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कर्म करना और बुरे कर्मों से डरना हमारा व्यर्थ है, क्योंकि उनके फल का भोग स्वयं जीव के आधीन नहीं है और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ेगा तो पर के हस्तक्षेप की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि जीव स्वयं अपने कृत कर्मों का फल भोगता है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य,
कुर्यात्पुमान् मरणजीवित-दुःख सौख्यम्॥

अतएव किसी को चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो, दूसरों के सुख-दुःख का, जीवन-मरण का कर्त्ता मानना मात्र एक कल्पना है, अज्ञान मात्र है। आचार्य अमितगति ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं, तदीयं लभते शुभाऽशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेव मनन्यमानसः, परोददातीति विमुच्य शेमुषी।

तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर भी संसार का स्रष्टा ईश्वर आदि कोई सिद्ध नहीं होता है। उसके विषय में इतने प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि न कोई जगत् का सर्जक सिद्ध होता है और न असंख्य प्रकार का जगत् वैचित्र्य किसी एक के द्वारा रचा जाना संभव है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी अपने व्यक्तिगत जगत् का स्वयं स्रष्टा है। इसी प्रकार जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नहीं मानता है, क्योंकि सृष्टि अनादि अनन्त होने से वह कभी अपूर्व रूप में उत्पन्न नहीं हुई है तथा वह भी स्वयं परिणमनशील होने से ईश्वर के अधिष्ठान की भी अपेक्षा नहीं रखती है।

कर्मसिद्धान्त पर आक्षेप और परिहार

कर्मसिद्धान्त पर ईश्वर को सृष्टिकर्ता या प्रेरक मानने वालों के कुछ आक्षेप हैं। उन आक्षेपों को निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) महल-मकान आदि विश्व की छोटी-बड़ी चीजें, जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा निर्मित होती हैं, तो पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए।

(२) सभी प्राणी अच्छे-बुरे कर्म करते हैं, परन्तु बुरे कर्म का फल कोई नहीं चाहता और कर्म स्वयं जड़ होने से विना किसी चेतन की प्रेरणा से वह फल देने में असमर्थ हैं। इसलिए ईश्वर को कर्मफल भोगवाने में कारण-रूप में कर्मवादियों को मानना चाहिए।

(३) ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सदा मुक्त हो और मुक्त

जीवों की अपेक्षा भी उसमें कुछ विशेपता हो। अतः कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी मुक्त, अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

उक्त आक्षेपों का समाधान क्रमशः इस प्रकार है—

(१) यह जगत् सदा से है, किसी समय नया नहीं वना है। परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनमें किसी मनुष्य आदि प्राणिवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा होती है और दूसरे ऐसे भी प्रयत्न देखे जाते हैं, जिनमें किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं भी रहती है। वे जड़ तत्त्वों के तरह-तरह के संयोगों-वियोगों से स्वतः स्वयमेव वनते रहते हैं, इसलिए ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने की कोई जरूरत नहीं है और न उपयोगिता है।

(२) यह ठीक है कि कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये हुए बुरे कर्म का फल नहीं चाहते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जीव, (चेतन) के संयोग से कर्म में एक प्रकार की ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाकों को नियत समय पर प्रकट करता है। कर्म सिद्धान्त यह नहीं मानता कि चेतन के सम्बन्ध के सिवाय ही जड़कर्म फल देने में समर्थ हैं, परन्तु यह मानता है कि फल देने के लिए ईश्वर रूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सभी जीव चेतन हैं और वे जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार उनकी वैसी बुद्धि बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर वैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना और फल न चाहना, ये दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं, केवल चाह न होने से ही किये गये कर्म का फल मिलने से रुक नहीं सकता है। सामग्री इकट्ठी हो गई हो तो कार्य आप-ही-आप होने लगता है, जैसे—एक मनुष्य धूप में खड़ा हो, गरम चीज खाता हो और चाहे कि प्यास न लगे तो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है। यदि ईश्वर-कर्तृत्ववादी यह कहें कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना फल प्राणियों पर प्रकट करते हैं तो इसका उत्तर यह है कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते हैं।

(३) ईश्वर और जीव—दोनों चेतन हैं, फिर उनमें अन्तर ही क्या है ? अन्तर सिर्फ इतना ही हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नहीं, परन्तु जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाती हैं। अतः जीव और ईश्वर में विषमता का कारण नहीं रहता है। विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है, उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विषमता संसार तक ही सीमित है, आगे नहीं। इसलिए यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। केवल विश्वास के बल पर यह कह देना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए, उचित नहीं है। सभी आत्माएँ तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं। केवल बन्धन के कारण ही छोटे-बड़े जीव रूप में देखी जाती हैं। यह सिद्धान्त सभी को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है और पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है।

आत्मा का अस्तित्व—सात प्रमाण

कर्म का बन्ध कौन करता है और उसका फल कौन भोगता है, इस प्रश्न का उत्तर है—आत्मा। अतएव कर्म-तत्त्व के बारे में विचार करने के साथ-साथ आत्मा के अस्तित्व को मानना जरूरी है, तभी कर्म का विवेचन युक्ति संगत माना जाएगा। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व निम्नलिखित सात प्रमाणों से सिद्ध होता है—

(१) स्वसंवेदन-रूप साधक प्रमाण,
(२) बाधक प्रमाण का अभाव,
(३) निषेध से निषेध कर्त्ता की सिद्धि,
(४) तर्क,
(५) शास्त्र-प्रमाण,
(६) आधुनिक विद्वानों की सम्मति,
(७) पुनर्जन्म।

उक्त प्रमाणों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

(१) स्वसंवेदन-रूप साधक प्रमाण—यद्यपि सभी देह-धारी अज्ञान के आवरण से न्यूनाधिक रूप से घिरे हुए हैं और इससे वे अपने ही अस्तित्व का

सन्देह करते हैं, तथापि जिस समय उनकी बुद्धि थोड़ी-सी भी स्थिर हो जाती है, उस समय उनको यह स्फुरणा होती है कि 'मैं हूँ।' यह स्फुरणा कभी नहीं होती कि 'मैं नहीं हूँ।' इससे उल्टा यह निश्चय होता है कि 'मैं हूं।' इसी बात को श्री शंकराचार्य ने भी कहा है—

'सर्व आत्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति'[1]—इसी निश्चय को स्व-संवेदन या आत्मनिश्चय कहते हैं।

(२) **बाधक प्रमाण का अभाव**—ऐसा कोई प्रमाण नहीं जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता हो। इस पर यद्यपि यह शंका हो सकती है कि मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना उसका बाधक प्रमाण है। परन्तु इसका समाधान सहज है। किसी विषय का बाधक प्रमाण वही माना जाता है, जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो और अन्य सब सामग्री मौजूद होने पर भी उसे ग्रहण न कर सके। उदाहरणार्थ—आँख मिट्टी के घड़े को देख सकती है। परन्तु प्रकाश, समीपता आदि सामग्री रहने पर भी वह घड़े को न देखे, उस समय उसे उस विषय की बाधक समझना चाहिए।

इन्द्रियाँ सभी भौतिक हैं। उनकी ग्रहणशक्ति परिमित है। वे भौतिक पदार्थों में से भी स्थूल, निकटवर्ती और नियत विषयों को ही ऊपर-ऊपर से जान सकती हैं। सूक्ष्मदर्शक यंत्रों आदि साधनों की भी वही दशा है। वे अभी तक भौतिक पदार्थों में ही कार्यकारी सिद्ध हुए हैं और उनमें भी पूर्ण रूप से नहीं। इसलिए उनका अभौतिक-अमूर्तआत्मा को न जान सकना बाधक नहीं कहा जा सकता है। मन सूक्ष्म भौतिक होने पर भी इन्द्रियों का दास बन जाता है—एक के पीछे एक, इस तरह अनेक विषयों में बन्दरों के समान दौड़ लगाता फिरता है—तब उसमें राजस और तामस वृत्तियाँ पैदा होती हैं; सात्त्विक भाव प्रकट नहीं होने पाता। यही बात गीता में भी कही गयी है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥[2]

---

१ ब्रह्मभाष्य १-१-१

२ गीता, अध्याय २, श्लोक ६७।

मन जब स्वतन्त्र विचरती हुई इन्द्रियों में जिस किसी एक भी इन्द्रिय के पीछे लग जाता है, तो उसकी बुद्धि को भी अपने साथ बहाकर ले जाता है, जैसे नाव को पवन।

इसलिए चंचल मन में आत्मा की स्फुरणा भी नहीं होती। यह देखी हुई बात है कि प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति जिस दर्पण में विद्यमान है, वही जब मलिन हो जाता है, तब उसमें किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं होता। इससे यह बात सिद्ध है कि बाहरी विषयों में दौड़ लगाने वाले अस्थिर मन से आत्मा का ग्रहण न होना, उसका बाधक नहीं, किन्तु मन की अशक्ति मात्र है।

इस प्रकार विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि मन, इन्द्रियाँ, सूक्ष्म-दर्शक-यंत्र आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा का निषेध करने की शक्ति नहीं रखते।

(३) **निषेध से निषेधकर्त्ता की सिद्धि**—कुछ लोग यह कहते हैं कि हमें आत्मा का निश्चय नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उसके अभाव की स्फुरणा हो जाती है, क्योंकि किसी समय मन में ऐसी कल्पना होने लगती है कि 'मैं नहीं हूँ' इत्यादि। परन्तु उनको जानना चाहिए कि उनकी यह कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है, क्योंकि आत्मा ही न हो तो ऐसी कल्पना का प्रादुर्भाव कैसे हो? जो निषेध कर रहा है, वह स्वयं ही आत्मा है। इस बात को शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है—

य एवहि निराकर्ता तदेवहि तस्य स्वरूपम्। २।३।१।७

(४) **तर्क**—यह भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की पुष्टि करता है। यह कहता है कि जगत में सभी पदार्थों का विरोधी कोई न कोई देखा जाता है। जैसे अंधकार का विरोधी प्रकाश, उष्णत्व का विरोधी शीतत्व और सुख का विरोधी दुःख है, उसी तरह जड़ पदार्थ का विरोधी कोई तत्त्व होना चाहिए। यह तर्क निर्मूल या अप्रमाण नहीं है, बल्कि इस प्रकार का तर्क शुद्ध बुद्धि का चिह्न है। जो तत्त्व जड़ का विरोधी है, वही चेतन या आत्मा है।

इस पर यह तर्क किया जा सकता है कि जड़-चेतन ये दो विरोधी स्वतंत्र तत्त्व मानना उचित नहीं, परन्तु किसी एक ही प्रकार के मूल पदार्थ में जड़ व चेतन तत्त्व दोनों शक्तियाँ मानना उचित है। जिस समय चेतनत्व शक्ति का

विकास होने लगता है—उसकी अभिव्यक्ति होती है—उस समय जड़त्व शक्ति का तिरोभाव रहता है। सभी चेतन शक्ति वाले प्राणी जड़ पदार्थ के विकास के ही परिणाम हैं। वे जड़ के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते, किन्तु जड़त्व शक्ति का तिरोभाव होने से जीवधारी-रूप में दिखाई देते हैं। ऐसा ही मन्तव्य हेगल आदि पश्चिमी विद्वानों का भी है। परन्तु इस प्रतिकूल तर्क का निराकरण अशक्य नहीं है।

यह देखा जाता है कि किसी वस्तु में जब एक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तब उसमें दूसरी विरोधी शक्ति का तिरोभाव हो जाता है। परन्तु जो शक्ति तिरोहित हो जाती है, वह सदा के लिए नहीं, किसी समय अनुकूल निमित्त मिलने पर फिर भी उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसीप्रकार जो शक्ति प्रादुर्भूत हुई होती है, वह भी सदा के लिए नहीं। प्रतिकूल निमित्त मिलते ही उसका तिरोभाव हो जाता है; उदाहरणार्थ— पानी के अणुओं को लीजिए, वे गरमी पाते ही भाप के रूप में परिणत हो जाते हैं, फिर शैत्य आदि निमित्त मिलते ही पानी के रूप में वरसते हैं और अधिक शीतत्व होने पर द्रव-रूप को छोड़ वर्फ के रूप में घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह यदि जड़त्व-चेतनत्व—दोनों शक्तियों को किसी एक मूलतत्त्व गत मान लें तो विकासवाद ही न ठहर सकेगा; क्योंकि चेतनत्व शक्ति के विकास के कारण जो आज चेतन (प्राणी) समझे जाते हैं, वे ही सब जड़त्व शक्ति का विकास होने पर फिर जड़ हो जायेंगे, जो पाषाण आदि पदार्थ आज जड़-रूप में दिखाई देते हैं, वे भी कभी चेतन हो जाएँगे और चेतनरूप से दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणी कभी जड़-रूप भी हो जाएँगे। अतएव एक ही पदार्थ में जड़त्व व चेतनत्व—दोनों विरोधिनी शक्तियों को न मानकर जड़ व चेतन—दो स्वतंत्र तत्त्वों को ही मानना ठीक है।

(५) **शास्त्र-प्रामाण्य**—अनेक पुरातन शास्त्र भी आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। जिन शास्त्रकारों ने वड़ी शान्ति व गम्भीरता के साथ आत्मा के विषय में खोज की है, उनके शास्त्रगत अनुभव को यदि हम विना ही अनुभव किये चपलता से यों ही हँस दें तो इसमें क्षुद्रता किसकी? आज-कल भी अनेक महात्मा ऐसे देखे जाते हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्रता

पूर्वक आत्मा के विचार में ही बिताया। उनके शुद्ध अनुभव को यदि हम अपने भ्रान्त अनुभव के वल पर न मानें तो इसमें न्यूनता हमारी ही है। पुरातन शास्त्र और वर्तमान अनुभवी महात्मा निस्स्वार्थ भाव से आत्मा के अस्तित्व को वतला रहे हैं।

(६) **आधुनिक वैज्ञानिकों की सम्मति**—आजकल लोग प्रत्येक विषय का खुलासा करने के लिए बहुधा वैज्ञानिक विद्वानों का विचार जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि अनेक पाश्चात्य भौतिक विज्ञानविशारद आत्मा को नहीं मानते या उसके विषय में सन्दिग्ध हैं, परन्तु ऐसे भी अनेक धुरन्धर वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने अपनी सारी आयु भौतिक चिन्तन की खोज में बिताई है, परन्तु उनकी दृष्टि भूतों से परे आत्मतत्त्व की ओर भी पहुँची है। उनमें से सर आलीवर लॉज और लार्ड केलविन के नाम वैज्ञानिक संसार में प्रसिद्ध हैं। वे दोनों विद्वान् चेतन तत्त्व को जड़ से जुदा मानने के पक्ष में हैं। उन्होंने जड़वादियों की युक्तियों का खंडन बड़ी सावधानी व विचारसरणी से किया है। उनका मन्तव्य है कि चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व के सिवाय जीवधारियों के देह की विलक्षण रचना वन नहीं सकती। वे अन्य भौतिकवादियों की तरह मस्तिष्क को ज्ञान की जड़ नहीं समझते, किन्तु उसे ज्ञान के आविर्भाव का साधन मात्र समझते हैं।

संसार-प्रख्यात वैज्ञानिक डा० जगदीशचन्द्र वसु की खोज से यहाँ तक निश्चय हो गया है कि वनस्पतियों में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है। उन्होंने अपने आविष्कारों से स्वतंत्र आत्मतत्व मानने के लिए वैज्ञानिक संसार को विवश किया है।

(७) **पुनर्जन्म**—यहाँ अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनका पूरा समाधान पुनर्जन्म माने बिना नहीं होता।

गर्भ के प्रारम्भ से लेकर जन्म तक वालक को जो-जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे अव उस वालक की कृति के परिणाम हैं या उसके माता-पिता की कृति के? उन्हें वालक की इस जन्म की कृति का परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि उसने गर्भावस्था में तो अच्छा-बुरा कुछ भी काम नहीं किया है। यदि माता-पिता की कृति का परिणाम कहें तो भी असंगत जान पड़ता है, क्योंकि माता-पिता अच्छा या बुरा कुछ भी करें, उसका परिणाम वालक को विना कारण

क्यों भोगना पड़े ? बालक जो कुछ सुख-दुःख भोगता है, वह यों ही बिना कारण भोगता है, यह मानना तो अज्ञान की पराकाष्ठा है, क्योंकि बिना कारण किसी कार्य का होना असंभव है। यदि यह कहा जाए कि माता-पिता के आहार-विहार का, आचार-विचार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का असर बालक पर गर्भावस्था से ही पड़ना शुरू होता है तो पुनः यह प्रश्न होता है कि बालक को ऐसे माता-पिता का संयोग क्यों हुआ ? और इसका क्या समाधान है कि कभी-कभी बालक की योग्यता माता-पिता से बिलकुल ही जुदा प्रकार की होती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता बिलकुल अपढ़ होते हैं और बालक पूरा शिक्षित बन जाता है। विशेष क्या, यहाँ तक देखा जाता है कि किन्हीं-किन्हीं माता-पिताओं की रुचि जिस बात पर बिलकुल ही नहीं होती, उसमें बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इसका कारण केवल आस-पास की परिस्थिति ही नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि समान परिस्थिति और बराबर देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियों में विचार और व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यदि कहा जाए कि यह परिणाम बालक के अद्भुत ज्ञान तन्तुओं का है तो इस पर यह शंका होती है कि बालक की देह माता-पिता के शुक्र-शोणित से बनी होती है, फिर उनमें अविद्यमान ऐसे ज्ञान-तन्तु बालक के मस्तिष्क में आये कहाँ से ? कहीं-कहीं माता-पिता की-सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है सही, पर इसमें भी प्रश्न है कि ऐसा सुयोग क्यों मिला। किसी-किसी जगह यह भी देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है और उनके सौ प्रयत्न करने पर भी लड़का गँवार ही रह जाता है।

यह सब तो विदित ही है कि एक साथ युगलरूप से जन्मे हुए दो बालक भी समान नहीं होते। माता-पिता की देखभाल बराबर होने पर भी एक साधारण ही रहता है और दूसरा कहीं आगे बढ़ जाता है। एक का पीछा रोग से नहीं छूटता और दूसरा बड़े-बड़े कुश्तीबाजों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है और दूसरा सौ यत्न होते रहने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है और दूसरे की असंयत। जो शक्ति महावीर, बुद्ध और शंकराचार्य में थी, वह उनके माता-पिता में न थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते। उनके गुरु भी उनकी

प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं थे, क्योंकि देवचन्द्र सूरि के उनके सिवाय और भी शिष्य थे। फिर क्या कारण है कि दूसरे शिष्यों का नाम लोग जानते तक नहीं और हेमचन्द्राचार्य का नाम इतना प्रसिद्ध है। श्रीमती एनीबिसेंट में जो विशिष्ट शक्ति देखी जाती है, वह उनके माता-पिता में न थी और न उनकी पुत्री में ही थी।

उक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति का परिणाम हैं, न माता-पिता के बल-संस्कार का ही और न केवल परिस्थिति की ही। इसलिए आत्मा के अस्तित्व की मर्यादा को गर्भ के प्रारम्भ समय से और भी पूर्व मानना चाहिए। वही पूर्वजन्म है। पूर्वजन्म में इच्छा या प्रवृत्ति द्वारा जो संस्कार संचित हुए हों उन्हीं के आधार पर उपयुक्त शंकाओं तथा विलक्षणताओं का सुसंगत समाधान हो जाता है। जिस युक्ति से एक पूर्वजन्म सिद्ध हुआ, उसी के बल पर अनेक पूर्वजन्मों की परम्परा सिद्ध हो जाती है; क्योंकि अपरिमित ज्ञानशक्ति एक जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। इस प्रकार आत्मा देह से भिन्न अनादि सिद्ध होती है। अनादि तत्व का कभी नाश नहीं होता, इस सिद्धांत को सभी दार्शनिक मानते हैं। गीता में भी कहा गया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।—गी०, अ० २, श्लोक १६

इतना ही नहीं, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने विना अनेक प्रश्न हल नहीं हो सकते। वहुत-से ऐसे लोग होते हैं कि वे इस जन्म में तो प्रामाणिक जीवन विताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढ़ते हैं, परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों का—अपराधों का फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फाँसी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और दूसरा पकड़ा जाता है। अब इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का वदला इस जन्म में नहीं मिला, क्या उनकी कृति यों ही विफल हो जायगी? यह कहना कि कृति विफल नहीं होती,

यदि कर्त्ता को फल नहीं मिला तो भी उसका असर समाज के या देश के अन्य लोगों पर होता ही है—सो भी ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब दूसरों के लिए ही नहीं। रात-दिन परोपकार करने में निरत महात्माओं की भी इच्छा दूसरों की भलाई करने के निमित्त से अपना परमात्मत्व प्रकट करने की ही रहती है। विश्व की व्यवस्था में इच्छा का वहुत ऊँचा स्थान है। ऐसी दशा में वर्तमान देह के साथ इच्छा के मूल का भी नाश मान लेना युक्ति-संगत नहीं। मनुष्य अपने जीवन की आखिरी घड़ी तक ऐसी ही कोशिश करता रहता है, जिससे कि अपना भला हो। यह नहीं कि ऐसा करने वाले सव भ्रान्त ही होते हैं। वहुत पहुँचे हुए स्थिर चित्त व शान्त प्रज्ञावान योगी भी इसी विचार से अपने साधन को सिद्ध करने की चेष्टा में लगे रहते हैं कि इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में ही सही, किसी समय हम परमात्म भाव को प्रकट कर ही लेंगे।

इसके सिवाय सभी के चित्त में यह स्फुरणा हुआ करती है कि मैं वरावर कायम रहूँगा। शरीर के नाश होने के वाद चेतन का अस्तित्व यदि न माना जाए तो व्यक्ति का उद्देश्य कितना संकुचित वन जाता है और कार्यक्षेत्र भी कितना अल्प रह जाता है? औरों के लिए जो कुछ भी किया जाए, वह अपने लिए किये जाने वाले कार्यों के वरावर हो नहीं सकता। चेतन की उत्तर मर्यादा को वर्तमान देह के अंतिम क्षण तक मान लेने से व्यक्ति को महत्त्वाकांक्षा एक तरह से छोड़ देनी पड़ती है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु मैं अपना उद्देश्य अवश्य सिद्ध करूँगा—यह भावना मनुष्य के हृदय में जितना वल प्रकट कर सकती है, उतना वल अन्य कोई भावना प्रकट नहीं कर सकती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त भावना मिथ्या है, क्योंकि उसका आविर्भाव नैसर्गिक और सर्व विदित है।

विकासवाद भले ही भौतिक रचनाओं को देख जड़ तत्त्वों पर खड़ा किया गया हो, पर उसका विषय चेतन भी वन सकता है। इन सव वातों पर ध्यान देने से यह माने विना सन्तोष नहीं होता कि चेतन एक स्वतन्त्र तत्त्व है। यह जानते या अनजानते जो कुछ अच्छा-वुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसीलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना पड़ता है।

बुद्ध भगवान ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन विद्वान् निट्से कर्मचक्र-कृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

आत्मा के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य

पूर्वोक्त संदर्भों से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादि-अनन्त है। वह न तो कभी बनी थी और न कभी इसका नाश होगा। वह शाश्वत है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि जब आत्मा किसी भी प्रकार से दिखाई नहीं देती है तो हम उसका अस्तित्व कैसे स्वीकार करलें? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि आत्मा कोई भौतिक पदार्थ नहीं है जो किसी शक्तिशाली सूक्ष्मवीक्षण यंत्र से दिखाई दे सके। यह तो अनुभूति द्वारा जानी जा सकती है।

देखना, स्पर्श होना आदि भौतिक पदार्थों का होता है। लेकिन आत्मा भौतिक पदार्थ नहीं है, अभौतिक है, इसलिए उसके देखने, स्पर्श होने की कल्पना नहीं की जानी चाहिए।

साधारणतया यह कहा जाता है कि हम अपनी आँख से देखते हैं, कानों से सुनते हैं आदि। किन्तु यह सत्य नहीं है। ये इन्द्रियाँ तो उपकरण मात्र हैं, वास्तव में विषयों को ग्रहण करने की शक्ति तो आत्मा में है। यही आत्मा इन इन्द्रियों के माध्यम से देखने, स्पर्श करने आदि कार्यों को करती है।

इस सम्बन्ध में एक और तथ्य विचारणीय है। आँखें केवल देख सकती हैं, कान केवल सुन सकते हैं, नाक सूंघ सकती हैं जीभ खट्टे मीठे आदि रसों का स्वाद ले सकती है और त्वचा ठंडे-गरम आदि का अनुभव कर सकती है। यदि हम आँखें बन्द करलें तो शरीर के अन्य अंग से देख नहीं सकते, यदि हम कान बन्द करलें तो शरीर के किसी अन्य अंग से सुन नहीं सकते हैं आदि-आदि। परन्तु हमारे शरीर के अन्दर कोई एक ऐसी विलक्षण शक्ति विद्यमान है जो एक साथ देखना, सुनना, सूंघना आदि क्रिया कर सकती है और उस शक्ति का नाम ही आत्मा या चेतना है।

आत्मा का लक्षण ज्ञान है। हम यह कह सकते हैं कि जहाँ-जहाँ आत्मा है, वहीं-वहीं ज्ञान अर्थात् जानना है। ज्ञान और आत्मा एक दूसरे से अभिन्न

हैं। विभिन्न आत्माओं पर कर्मों का आवरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होने के कारण भिन्न-भिन्न जीवों के ज्ञान में न्यूनाधिकता हो सकती है, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जहाँ आत्मा हो, वहाँ ज्ञान न हो। भौतिक पदार्थों को देखें, उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता। प्रत्येक जीवित प्राणी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु-पक्षी या सूक्ष्म कीट-पतंग, उनमें ज्ञान अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि उनके अपने-अपने आवरण के कारण ज्ञान में तरतमता होगी।

ज्ञान को यदि शरीर का लक्षण मानें तो बड़े शरीर में अधिक ज्ञान और छोटे शरीर में अपेक्षाकृत कम ज्ञान होगा। परन्तु यह बात अनुभव के विपरीत है। शव में भी ज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

कुछ व्यक्ति शंका कर सकते हैं कि जब सभी जीवों में आत्मा है और आत्मा का लक्षण ज्ञान है तो सभी जीवों को एक समान ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि आत्मा तो वस्तुतः ज्ञानमय है, परन्तु उस पर कर्मों का आवरण पड़ा हुआ है और इस आवरण के कारण ही आत्मा का ज्ञान-गुण ढका रहता है। जैसे-जैसे आवरण का घनत्व कम होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान-गुण अधिकाधिक प्रकट होता जाता है।

हम आत्मा के ज्ञान-गुण की तुलना सूर्य के प्रकाश से और कर्मों के आवरण की तुलना बादलों से कर सकते हैं। यद्यपि सूर्य में से प्रकाश तो सम्पूर्ण रूप से निकल रहा है परन्तु बादल आजाने से हम सूर्य के प्रकाश को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाते हैं। यदि बादल घने हों तो हमें प्रकाश बहुत कम मिल पाता है और जैसे-जैसे बादलों का घनत्व कम होता जाता है, हम अधिकाधिक प्रकाश पाते जाते हैं। यही बात ज्ञान के विकास और कर्मावरण के सम्बन्ध में घटित कर लेनी चाहिए।

प्रत्येक जीव में हर्ष-विषाद, प्रेम, घृणा आदि भावनाएँ दिखती हैं। ये भावनाएँ जीव के भौतिक शरीर-पिण्ड की नहीं हैं। यदि ये भावनाएँ भौतिक पदार्थों की गुण होतीं तो ये सदैव ही सब भौतिक पदार्थों में पाई जातीं, परन्तु ऐसा नहीं होता है। ज्ञान की तरह ये भावनाएँ केवल जीवित प्राणियों में ही होती हैं। इसलिए ये भावनाएँ भी शरीर में विद्यमान किसी अभौतिक पदार्थ की अनभति कराती हैं और वह जो अभौतिक पदार्थ है, आत्मा है।

एक प्रदेश में असंख्य आत्माओं के विद्यमान होने में भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्मा अभौतिक पदार्थ है। उसमें रूप, रस, गंध, वर्ण, स्पर्श जो भौतिक पदार्थ के गुण हैं—नहीं हैं। इसलिए एक ही समय में, एक ही स्थान पर एक साथ असंख्य आत्माओं के विद्यमान होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे—एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश भी रह सकता है और दूसरे सहस्रों दीपकों का प्रकाश भी उसी कमरे में व्याप्त हो सकता है। इसमें किसी प्रकार से व्याघात (रुकावट) नहीं आता है। उन सब दीपकों का प्रकाश एक दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र है। इसी प्रकार एक ही समय में एक ही स्थान पर असंख्य आत्माओं के बिलकुल स्वतंत्र रूप से एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्रत्येक आत्मा अपने-अपने शरीर प्रमाण है—न उससे कम और न उससे अधिक। आत्मा में सिकुड़ने और फैलने का गुण होता है, इसलिए वह अपने कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शरीर के प्रमाण वाली हो जाती है, जैसे कि एक दीपक को छोटी-सी कोठरी में रखने पर उसका प्रकाश उस कोठरी तक सीमित रहता है और जब उसी दीपक को एक बड़े कमरे में रखते हैं तो उसका प्रकाश उस बड़े कमरे में फैल जाता है। इसी तरह आत्मा के कीड़ी और कुंजर के शरीर में व्याप्त होने के बारे में समझना चाहिए।

कर्म का अनादित्व

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है और कर्मबन्ध होता रहता है। तो सहज ही मनुष्य के मन में विचार होता है कि आत्मा पहले है या कर्म पहले है। दोनों में से पहले कौन है और पीछे कौन है अथवा आत्मा की तरह कर्म भी अनादि है। यदि आत्मा पहले है तो जब से उसके साथ कर्म का बंध हुआ, तब से उसको सादि मानना पड़ेगा। जैनदर्शन में इसके उत्तर में कहा है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी-न-किसी तरह भी हलचल किया करता है। हलचल का होना ही कर्मबन्ध का कारण है। इससे सिद्ध होता है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि है, किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला, इसको कोई नहीं जानता और न कोई बता सकता है। भविष्यकाल की तरह भूतकाल भी

अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असंभव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे विना दूसरी गति ही नहीं है।

कुछ लोग अनादि की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घवराकर कर्म-प्रवाह को सादि वतलाने लग जाते हैं, किन्तु अपनी बुद्धि से कल्पित दोप की आशंका करके उसे दूर करने के प्रयत्न में दूसरे बड़े दोष को स्वीकार कर लेते हैं कि यदि कर्म-प्रवाह की आदि मानते हैं तो जीव को पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिए, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण? और यदि सर्वथा शुद्ध-वुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्मलिप्त होंगे और उस स्थिति में मुक्ति को सोया हुआ संसार ही कहना चाहिए। कर्म-प्रवाह के अनादित्व और मुक्त जीवों को पुनः संसार में न लौटने को सभी प्रतिष्ठित दर्शनों ने माना है।

प्रवाह संतति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध और व्यक्ति की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है के वारे में स्पष्टतया समझने के लिए आचार्यों ने कहा है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते।
तेहि दुवि सयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥[1]

जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। ऐसा नहीं है कि जीव अनादि काल से सर्वथा शुद्ध चैतन्यरूप था और वाद में किसी समय उस कर्म के साथ सम्वन्ध हो गया हो। इसको इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, बीज और वृक्ष का अनादिकालीन सम्बन्ध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह संतति की अपेक्षा अनादिकालीन सम्बन्ध स्वयं सिद्ध

---

१. पंचास्तिकाय

जानना चाहिए। अर्थात् संसारी जीवों के मन, वचन, काया में परिस्पन्दन होता है और उससे कर्मों का आस्रव होने से गति आदि होती है। गति होने पर देह और देह में इन्द्रियाँ बनती हैं, उनसे विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष उत्पन्न होता रहता है और फिर इन राग-द्वेष रूप भावों से संसार का चक्र चलता रहता है।

अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त सम्भव है

कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध है और जो अनादि होता है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता है, ऐसा सामान्य नियम है। लेकिन कर्म के बारे में यह नियम सार्वकालिक नहीं है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सम्बन्ध है, तथापि वे प्रयत्न-विशेष से पृथक्-पृथक् होते देखे जाते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का भी अन्त होता है। यह स्मरणीय है कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है, किसी एक कर्म-विशेष का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध नहीं है। पूर्वबद्ध कर्मस्थितिपूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है और नवीन कर्म का बंध होता रहता है। इस प्रकार से, प्रवाह रूप से कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिशः अनादि नहीं है और तप-संयम के द्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से आत्मा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा प्रयत्न-विशेषों से नष्ट हो जाती है और पुनः नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है।

आत्मा और कर्म में बलवान कौन ?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अतः कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं और कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है, परन्तु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणति से कर्मों का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने भी शक्तिशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ति-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है, किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-

टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नहीं होता, तब तक वह कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन-सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्नकर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है।

कर्मसिद्धान्त का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

अध्यात्मशास्त्र—अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य आत्मा सम्बन्धी विषयों का विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पड़ता है। ऐसा न करने से यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, सुखी-दुखी आदि आत्मा की दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप ठीक-ठीक जाने बिना उसके बाद का स्वरूप जानने की योग्यता, दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है? इसके सिवाय यह भी प्रश्न होता है दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं हैं? इसलिए अध्यात्मशास्त्र के लिए आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप की उपपत्ति दिखाकर आगे बढ़े। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओं को कर्मजन्य बतलाकर उससे आत्मा के स्वभाव की पृथकता की सूचना करता है। इस दृष्टि से कर्मशास्त्र अध्यात्म-शास्त्र का ही एक अंग है।

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य यदि आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना ही माना जाय, तब भी कर्मशास्त्र को उसका प्रथम सोपान मानना ही पड़ता है। इसका कारण यह है कि जब तक अनुभव में आनेवाली वर्तमान अवस्थाओं के साथ आत्मा के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण न हो, तब तक दृष्टि आगे कैसे बढ़ सकती है? जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के (वर्तमान के) सब रूप मायिक या वैभाविक हैं, तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? उसी समय आत्मा के केवल शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन सार्थक होता है। परमात्मा के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाना, यह भी अध्यात्मशास्त्र का विषय है। इस सम्बन्ध में उपनिषद् या गीता में जैसे विचार पाये जाते हैं, वैसे ही कर्मशास्त्र में भी। कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव

ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा में मिल जाना, इसका मतलव यह है कि आत्मा का कर्ममुक्त होकर अपने परमात्म भाव को व्यक्त करके परमात्मस्वरूप मय हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका मतलव कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञानकला व्यक्त है, वह परिपूर्ण, परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना चंद्रिका का एक अंश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि वाह्य विभूतियों में आत्मवुद्धि करना, अर्थात् जड़ में अहंत्व करना बाह्यदृष्टि है। इस अभेद भ्रम को वहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोड़ने की शिक्षा कर्मशास्त्र देता है। जिनके संस्कार केवल वहिरात्मभावमय हो गये हैं, उन्हें कर्मशास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सचाई में कुछ भी अंतर नहीं पड़ सकता है।

शरीर और आत्मा के अभेद भ्रम को दूर कराकर उसके भेदज्ञान को, विवेकख्याति को कर्मशास्त्र प्रगट करता है। इसी समय से अंतर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने में विद्यमान परमात्म-भाव देखा जाता है। परमात्म-भाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव में लाना—यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढंग से कर्मशास्त्र ने अपने ऊपर ले रखा है; क्योंकि वह अभेद भ्रम से भेद ज्ञान की तरफ झुकाकर फिर स्वाभाविक अभेदज्ञान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खींचता है। वस उसका कर्तव्य क्षेत्र उतना ही है। साथ ही, योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अंश का वर्णन भी उसमें मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारों की खान है। यही उसका महत्त्व है।

वहुत-से लोगों को कर्म की प्रकृतियों की गिनती, संख्या की वहुलता आदि से उस पर रुचि नहीं होती, परन्तु इसमें कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ़ विषयों पर स्थूलदर्शी लोगों की दृष्टि नहीं जमती और उन्हें रस नहीं आता, तो इसमें उन विषयों का क्या दोष? दोष है समझनेवालों की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय में रस तभी आता है, जवकि वह उसमें तल तक उतर जाए।

शरीरशास्त्र—आत्मा के साथ कर्म का निकटतम सम्बन्ध है। शुद्ध, निष्कर्म आत्मा होने के पूर्व उसकी अशुद्ध स्थिति, कारणों आदि का कथन कर्मशास्त्र में है। अशुद्ध स्थिति में आत्मा का कोई-न-कोई शरीर, इन्द्रिय आदि होती हैं। अतः इनका भी वर्णन कर्मशास्त्र में यथास्थान किया जाता है। वैसे तो शरीर निर्माण के तत्व, उसके स्थूल-सूक्ष्म प्रकार, उसके वृद्धि-ह्रास-क्रम आदि का विचार शरीरशास्त्र में किया जाता है और वास्तव में यह शरीरशास्त्र का विषय है, लेकिन कर्मशास्त्र में भी प्रसंगवश ऐसी अनेक बातों का वर्णन किया गया है, जोकि शरीर से सम्बन्ध रखती हैं।

शरीर सम्बन्धी बातें चाहे पुरातन पद्धति से कही गई हैं। लेकिन इतने मात्र से उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। मुख्य रूप से यह देखना है कि कर्मशास्त्र में भी शरीर की बनावट, उसके प्रकार, उसकी मजबूती और उसके कारणभूत तत्वों का व्यवस्थित रीति से कथन किया गया है और उनकी शोध करके नवीनता भी लाई जा सकती है और शास्त्र की महत्ता भी सिद्ध की जा सकती है।

इसी प्रकार कर्मशास्त्र में भाषा व इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी विचारणीय चर्चा मिलती है। भाषा किस तत्त्व से बनती है, उसके बनने में कितना समय लगता है। उसकी रचना के लिए आत्मा अपनी शक्ति का किस तरह प्रयोग करती है और किस साधन द्वारा करती है। भाषा की सत्यता, असत्यता का आधार क्या है? कौन-कौन प्राणी भाषा बोल सकते हैं? किस जाति के प्राणी में किस प्रकार की भाषा बोलने की शक्ति है इत्यादि भाषा सम्बन्धी प्रश्नों का महत्त्वपूर्ण व गम्भीर विचार कर्मशास्त्र में विशद रीति से किया हुआ मिलता है।

इसी प्रकार इन्द्रियां कितनी हैं, कैसी हैं, उनके कैसे-कैसे भेद और कैसी-कैसी शक्तियाँ है? किस-किस प्राणी को कितनी-कितनी इन्द्रियाँ प्राप्त हैं? बाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का आपस में क्या सम्बन्ध है, इनका कैसा-कैसा आकार है इत्यादि इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रकार के विचार कर्मशास्त्र में पाये जाते हैं।

यह ठीक है कि ये सब विचार उसमें क्रमबद्ध नहीं भी मिलते हों किन्तु यह ध्यान में रहे कि कर्मशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अंश और ही है और उसी

के वर्णन के प्रसंग में शरीर, भाषा, इन्द्रिय आदि का विचार आवश्यकतानुसार किया गया है। इसलिए संभवतः व्यवस्थित संकलना न हो पाई हो, तो भी इससे कर्मशास्त्र की त्रुटि सिद्ध नहीं होती है, बल्कि उसको तो अनेक शास्त्रों के विषय की चर्चा करने का गौरव ही कहा जाएगा।

कर्मसिद्धान्त का साध्य : प्रयोजन

कर्म-सिद्धान्त का आविर्भाव किस प्रयोजन से हुआ, इसके उत्तर में निम्न-लिखित तीन प्रयोजन मुख्यतया हैं—

(१) वैदिक धर्म की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता के भ्रान्त अंश को दूर करना।

(२) बौद्ध धर्म के एकान्त क्षणिकवाद को अयुक्त बताना।

(३) आत्मा को जड़ तत्त्व से भिन्न स्वतंत्र चेतन तत्त्व स्थापित करना।

इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) महावीर कालीन भारतवर्ष में जैनधर्म के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध धर्म मुख्य थे, परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयों में नितान्त भिन्न थे। मूल वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों में और वेदानुयायी कतिपय दर्शनों में ईश्वर-विषयक ऐसी कल्पना थी कि जिससे सर्वसाधारण का यह विश्वास हो गया था कि जगत् का उत्पादक ईश्वर ही है, वही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीव से भोगवाता है, कर्म जड़ होने से ईश्वर की प्रेरणा के बिना अपना फल भोगवा नहीं सकते। चाहे कितनी ही उच्चकोटि का जीव हो, परन्तु वह अपना विकास करके ईश्वर हो नहीं सकता, जीव-जीव ही है, ईश्वर नहीं और ईश्वर के अनु-ग्रह के सिवाय संसार से निस्तार भी नहीं हो सकता इत्यादि।

इस प्रकार के विश्वास में ये तीन भूलें थीं—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि में हस्तक्षेप करना। (२) आत्मस्वातंत्र्य का दब जाना। (३) कर्म की शक्ति का अज्ञान। इन भूलों का परिमार्जन करने और यथार्थ वस्तुस्थिति को बतलाने के लिए भगवान महावीर ने कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म में ईश्वर कर्तृत्व का निषेध किया गया था। बुद्ध का उद्देश्य मुख्यतया हिंसा को रोकने और समभाव फैलाने का था और उनकी तत्त्वप्रतिपादन की शैली भी तत्कालीन उद्देश्य के अनुरूप ही थी। तथागत बुद्ध

कर्म और उसका विपाक मानते थे, लेकिन उनके सिद्धान्त में क्षणिकवाद का प्रतिपादन किया गया था। इसलिए भगवान महावीर का कर्मसिद्धान्त के प्रतिपादन का एक यह भी उद्देश्य था कि यदि आत्मा को क्षणिकमात्र मान लिया जाय तो कर्मविपाक की किसी तरह उपपत्ति नहीं हो सकती। स्वकृत कर्म का भोग और परकृत कर्म के भोग का अभाव तभी घट सकता है, जबकि आत्मा न तो एकान्त नित्य माना जाए और न एकान्त क्षणिक।

भौतिकवादी आज की तरह उस समय भी थे। वे भौतिक देह नष्ट होने के बाद कृतकर्म-भोगी पुनर्जन्मवान किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते थे। यह दृष्टि बहुत ही संकुचित थी, जिसका कर्मसिद्धान्त के द्वारा निराकरण किया गया।

कर्मसिद्धान्त-विचार : ऐतिहासिक समीक्षा

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व के विवेचन को अनादि माना है। जैन इसका समर्थन वैसे ही करते आये हैं, जैसे मीमांसक वेदों के अनादित्व की मान्यता का करते हैं। बुद्धि-अप्रयोगी और बुद्धि-प्रयोगी दोनों प्रकार के श्रद्धालु मानते आये हैं और बुद्धिप्रयोगी तो श्रद्धा से मान ही नहीं लेते, उसका बुद्धि के द्वारा यथा-संभव समर्थन भी करते हैं। उक्त दृष्टि से कर्मतत्त्व की विचारणा का महत्त्व तो है ही, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार किया जाना उतना ही महत्त्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मतत्त्व सम्बन्धी विचार-परम्परा की शृंखला में पहला प्रश्न है कर्मतत्त्व मानना या नहीं और मानना तो किस आधार पर। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ नहीं मानता था। उसकी दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ है। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाध्य नहीं था जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यह पक्ष चार्वाक के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु साथ ही, उस पुराने युग में भी ऐसे चिन्तक थे, जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नहीं, इस दृश्यमान लोक के अलावा और श्रेष्ठ कनिष्ठ लोक है। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। इनकी दृष्टि रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घट ही नहीं सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता

आधार पर कर्मतत्त्व को स्वीकार करना आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

इन कर्मवादियों के भी मुख्य दो दल रहे हैं। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मजन्मान्तर और परलोक अवश्य हैं, परन्तु श्रेष्ठ जन्म और श्रेष्ठ परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा स्वर्ग को श्रेष्ठ लोक मानने वाला होने और उसके साधन रूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से धर्म, अर्थ, काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थों को मानता था। उसकी दृष्टि में मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कहीं प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता है, वह इसी त्रिपुरुषार्थ-वादी दल के मन्तव्य का सूचक है।

यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य, शिष्ट एवं विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति तथा निंद्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर एक तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था। यही दल ब्राह्मण मार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका मंतव्य संक्षेप में इस प्रकार है—

धर्म—शुभ कर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभ कर्म का फल नरक आदि हैं। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्हीं के द्वारा जन्मजन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चलती रहती है, जिसका उच्छेद शक्य नहीं है। यदि शक्य है, तो इतना कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है तो धर्म ही कर्त्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय है परन्तु धर्म या पुण्य हेय नहीं।

कर्मवादियों का दूसरा दल उपर्युक्त दल से सर्वथा विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था। वह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट, सम्मत एवं विहित कर्मों के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता, परन्तु वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है। इसके मतानुसार एक चौथा पुरुषार्थ भी है, जो मोक्ष कहा जाता है। इसका कथन है कि एक मात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्य रूप या पाप रूप—हेय है। यह नहीं कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो। प्रयत्न से वह भी शक्य है।

जहाँ कहीं भी निवर्तक धर्म का उल्लेख आता हैं, वहाँ सर्वत्र इसी मत का संकेत है।

इस मत के अनुसार जब आत्यन्तिक कर्म निवृत्ति इष्ट है, तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पड़ा। इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि निषेध नहीं, किन्तु अज्ञान और रागद्वेष है। कैसा भी शिष्ट, सम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यों न हो, पर वह अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है। इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टि वालों के लिए है। तत्त्वतः पुण्य और पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक होने से अधर्म एवं हेय ही हैं। यह निवर्तक धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्ति विकासवादी रहा। जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया, तब इसे कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणों पर भी विचार करना पड़ा। इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्म निवर्तक कारण स्थिर किये, वही इस दल का निवर्तक धर्म है।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा परस्पर बिलकुल विरुद्ध है। एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और सुव्यवस्था का निर्माण है, जब कि दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव वह मात्र आत्मगामी है। निवर्तक धर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्म प्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से, उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञान विरोधी सम्यक्ज्ञान और राग द्वेषविरोधी राग-द्वेष नाश रूप संयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधन रूप से माने गये।

निवर्तक धर्मावलंबियों में अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्षभेद कुछ तो वादों की स्वभावमूलक उग्रता-मृदुता का आभारी था और कुछ अंशों में तत्त्व ज्ञान की भिन्न-भिन्न प्रक्रिया पर भी अवलम्बित था। उनके तीन पक्ष रहे जान पड़ते हैं— (१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, (३) परमाणु होकर भी प्रधान की छायावाला। इनमें से पहला परमाणुवादी मोक्ष समर्थक होने पर भी प्रवर्तक धर्म का उतना विरोधी न था, जितने कि पिछले दो। यही पक्ष न्याय, वैशेषिक

दर्शन रूप से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पक्ष प्रधानवादी आत्यन्तिक कर्म निवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तक धर्म, अर्थात् श्रौत-स्मार्त कर्म को भी हेय बतलाता था। यही पक्ष सांख्य, योग नाम से प्रसिद्ध है और इसी के तत्त्व ज्ञान की भूमिका के ऊपर तथा इसी के निवृत्तिवाद की छाया में आगे जाकर वेदान्त दर्शन और संन्यास-मार्ग की प्रतिष्ठा हुई। तीसरा पक्ष प्रधान छायापन्न, अर्थात् परिणामी परमाणुवादी का रहा, जो दूसरे पक्ष की तरह ही प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी था। यही पक्ष जैन एवं निर्ग्रन्थ दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध दर्शन प्रवर्तक धर्म का आत्यन्तिक विरोधी है, पर वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती स्वतन्त्र विकास है। परन्तु सभी निवर्तकवादियों का सामाजिक लक्ष्य यह है कि किसी-न-किसी प्रकार कर्मों की जड़ नष्ट करना और ऐसी स्थिति पाना कि जहाँ से फिर जन्मचक्र में आना न पड़े।

ऐसा मालूम नहीं होता है कि कभी मात्र प्रवर्तकधर्म प्रचलित रहा हो, और निवर्तक धर्मवाद का पीछे से प्रादुर्भाव हुआ हो। फिर भी प्रारम्भिक समय ऐसा जरूर बीता है, जबकि समाज में प्रवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा मुख्य थी और निवर्तक धर्म व्यक्तियों तक ही सीमित होने के कारण प्रवर्तक धर्मवादियों की तरफ से न केवल उपेक्षित ही था, बल्कि उससे विरोध के आघात भी सहता रहा। परन्तु निवर्तक धर्मवादियों की पृथक-पृथक परम्पराओं ने ज्ञान, ध्यान, तप, योग, भक्ति आदि आभ्यन्तर तत्त्वों का क्रमशः इतना अधिक विकास किया कि फिर तो प्रवर्तक धर्म के होते हुए भी सारे समाज पर एक तरह से निवर्तक धर्म की प्रतिष्ठा की मुहर लग गई और जहाँ देखो वहां निवृत्ति की चर्चा होने लगी और साहित्य भी निवृत्ति के विचारों से ही निर्मित एवं प्रचारित होने लगा।

निवर्तक धर्मवादियों को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनों के विषय में तो ऊहापोह करना ही पड़ता था। पर इसके साथ उनके कर्मतत्त्वों के विषय में भी बहुत विचार करना पड़ा। उन्होंने कर्म तथा उसके भेदों की परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ स्थिर कीं, कार्य और कारण की दृष्टि से कर्म तत्त्व का विविध वर्गीकरण किया, कर्म की फलगत शक्तियों का विवेचन किया, प्रत्येक के विपाकों की काल-मर्यादाएँ सोचीं, कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियों का अच्छा-खासा कर्मतत्त्व विषयक शास्त्र व्यवस्थित

हो गया और इसमें दिन-प्रति-दिन नये-नये प्रश्नों और उनके उत्तरों के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा।

ये निवर्तकवादी विभिन्न पक्ष अपने-अपने सुभीते के अनुसार पृथक-पृथक विचार करते रहे, परन्तु जब तक इन सबका सम्मिलित ध्येय प्रवर्तक कर्मवाद का खंडन रहा, तब तक उनमें विचार-विनिमय भी होता रहा और उनमें एक-वाक्यता भी रही। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन में कर्म-विषयक साहित्य में परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दशः और अर्थशः साम्य बहुत कुछ देखने में आता है, जबकि उक्त दर्शनों का विद्यमान साहित्य उस समय की अधिकांश पैदाइश है, जिस समय कि उक्त दर्शनों का परस्पर सद्भाव बहुत कुछ घट गया था।

मोक्षवादियों के सामने एक समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्ध कर्म भी अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमशः फल भोगने के समय प्रत्येक क्षण में नये-नये कर्म बँधते हैं, फिर इन सब कर्मों का सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है, इस समस्या का समाधान भी मोक्षवादियों ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में उस समाधान का वर्णन संक्षेप या विस्तार से एक-सा पाते हैं।

यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तक-वादियों के भिन्न-भिन्न पक्षों में खूब विचारविनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया था, जबकि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस में पहले जैसे निकट न रहे। फिर भी हर एक पक्ष कर्मतत्त्व के विषय में ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच में ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष में एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया, जो मोक्ष सम्बन्धी प्रश्नों की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था, जैसा कि अन्य-अन्य विषय के चिन्तक वर्ग अपने-अपने विषय में किया करते थे और आज भी करते हैं।

कर्म के बन्धक कारणों और उसके उच्छेदक उपायों के बारे में मोक्षवादी गौण-मुख्यभाव से एक मत हैं ही पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट चिन्तक वर्ग का जो मंतव्य है, उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी

मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन धर्म बतलाते थे, जबकि प्रधानवादी सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़ धर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी मानने वाले जैन चिन्तक अपनी स्वतंत्र प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणाम रूप से उभयरूप मानते हैं। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी सांख्य के प्राकृत अन्तःकरण की तरह संकोच विकासशील है, जिसमें कर्मरूप विकार भी संभव है और जो जड़ परमाणुओं के साथ एक रस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतन धर्म होने से वस्तुतः चेतन से अलग नहीं और सांख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुतः जड़ से पृथक् नहीं, जबकि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभय रूप ही फलित होता है, जिसे वे भाव और द्रव्य कर्म भी कहते हैं। यह सब कर्म तत्त्व सम्बन्धी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है, जबकि कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचार-विनिमय अधिकाधिक होता था। वह समय कितना पुराना है, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैन दर्शन में कर्मशास्त्र का जो चिरकालीन संस्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृंखला-बद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है, उसे ध्यान में रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैन दर्शन की विशिष्ट कर्म-विद्या भगवान पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के कारण जैन कर्मशास्त्रज्ञ कहलाये और यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्म प्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई।

एक ओर जैन चिन्तकों ने कर्म-तत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया, जबकि दूसरी ओर सांख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए, तब उन्होंने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने विरासत में मिले कर्मचिन्तन का रूप अपना रखा है। यही कारण है कि सूक्ष्मता और विस्तार में जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है। फिर भी सांख्ययोग, बौद्ध आदि दर्शनों के कर्म चिन्तकों के साथ उसका बहुत कुछ साम्य है और मूल में एकता भी है, जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है।

जैन दर्शन में कर्म-सिद्धान्त का विवेचन

भारतवर्ष दार्शनिक चिन्तन की पुण्यभूमि है। यहाँ के मनीषी दार्शनिकों ने जीवन के गंभीर प्रश्नों पर चिन्तन-मनन करना अधिक उपयुक्त समझा। एतदर्थ यहाँ आत्मा-परमात्मा, लोक स्वरूप, कर्म, कर्मफल आदि के बारे में गहन चिन्तन-मनन व विवेचन किया है। वस्तुतः यह चिन्तन ही भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है।

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वी, जल या वनस्पतिगत हो या कीट पतंग, पशु-पक्षी-रूप हो या मानव-रूप हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही आत्मविद्या का सार है, परन्तु जब तत्त्वतः सब जीव समान हैं तब उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, इस प्रश्न के उत्तर से ही कर्म सिद्धान्त का जन्म हुआ।

अध्यात्मवादी भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कर्म-सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख-दुःख एवं विभिन्न प्रकार की सांसारिक विचित्रताओं के कारणों की खोज करते हुए भारतीय चिन्तकों ने कर्म सिद्धान्त का अन्वेषण किया। और विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं ने, जिनका संकेत पहले किया जा चुका है, माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार आदि के रूप में बताया है, तथापि इसका जो सुव्यवस्थित और सुविकसित रूप जैनदर्शन में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र क्रमबद्ध रूप से प्राप्त नहीं होता है।

अन्य दार्शनिक परम्पराओं में कर्म को मानते हुए भी उसकी फलप्राप्ति के कारण के रूप में येनकेन प्रकारेण ईश्वर को माध्यम मान लिया कि वह जीवों को कर्मफल देता है। इसके विपरीत जैनदर्शन ने ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति या विनाश और कर्मफल प्रदाता के रूप में न मानते हुए स्वयं जीव को कर्म करने और उनका फल भोगने का अधिकारी बताया है। जीव अनादि काल से स्वकृत कर्मों के वश होकर विविध भवों में परिभ्रमण कर रहा है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता है। इसलिए यहाँ जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त-विषयक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

जैनदर्शन का विश्वसम्बन्धी दृष्टिकोण

जैन-मान्यतानुसार विश्व के मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव

चेतन और जड़। निर्जीव अवस्था में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये सब एक ही जड़ तत्त्व के रूपान्तर हैं, जिन्हें पुद्‌गल कहते हैं। आकाश और काल भी तत्त्व हैं, किन्तु वे उपर्युक्त पृथ्वी आदि के समान मूर्तिमान नहीं, अमूर्त हैं। जीव, आत्मा या चेतन इन सबसे पृथक् तत्त्व है, जिसका लक्षण चेतना है। वह अपनी सत्ता का भी अनुभव करता है और अपने आस-पास के परपदार्थों का भी ज्ञान रखता है। उसकी इन दो वृत्तियों को जैनदर्शन में दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग कहा है। दैहिक अवस्था में यह जीव अपनी रागद्वेषात्मक मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों द्वारा सूक्ष्मतम पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण करता रहता है और उनके द्वारा नाना प्रकार के आभ्यन्तर संस्कारों को उत्पन्न करता है। इन सूक्ष्मतम पुद्‌गल परमाणुओं का आत्मप्रदेशों से आ मिलने की प्रक्रिया का नाम आस्रव है और इस मेल के द्वारा जो शक्तियाँ, आत्मस्वरूप की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका नाम बंध है। इस प्रक्रिया के द्वारा इस सृष्टि का क्रम चलता रहता है और जीव उनके द्वारा निर्मित परिणामों को भोगता रहता है। अन्य कोई इन्हें सुख-दुख देने में कारण नहीं बनता है अथवा हो सकता है।

कर्म का लक्षण

राग-द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के अन्दर प्रति समय परिस्पंदन रूप जो क्रिया होती रहती है. उसको मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के साथ एक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है और वह राग-द्वेष का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँध जाता है। समय पाकर वह द्रव्य सुख-दुःख-रूप फल देने लगता है, उसे कर्म कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद आदि से जीव के द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।[1]

---

[1] (क) कीरइ जीएण हेउहिं जेणं त्तो भण्णए कम्मं

—कर्मग्रन्थ भाग १।१

(ख) विसय कसायहि रंगियहं जे अणुयालग्गंति।
जीव पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति॥

—परमात्म प्रकाश १।६२

कर्म के दो भेद हैं—भावकर्म और द्रव्य कर्म। जीव के जिन राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर अचेतन कर्म द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है, उन भावों का नाम भावकर्म है और जो अचेतन कर्मद्रव्य आत्मा के साथ संबद्ध होता है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

भावकर्म और द्रव्यकर्म का विशेष विवेचन

भावकर्म—जैनदर्शन में कर्मबन्ध के विस्तार से मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कपाय और योग ये पाँच कारण बतलाये हैं और इनको क्रमशः संक्षिप्त करते हुए संक्षिप्त रूप अन्तिम दो कारणों—कपाय और योग में किया हुआ मिलता है। इन दो कारणों को भी अधिक संक्षेप में कहा जाय तो कपाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यों तो कषाय के विकार के अनेक कारण हैं, पर उन सबका संक्षेप में वर्गीकरण करके अध्यात्मवादियों ने राग और द्वेप ये दो ही प्रकार कहे हैं; क्योंकि कोई भी मानसिक विचार हो या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (घृणा) रूप है। अनुभव से भी यही सिद्ध है कि साधारण प्राणियों की प्रवृत्ति चाहे ऊपर से कैसी ही क्यों न दीख पड़े, परन्तु वह या तो राग-मूलक या द्वेषमूलक होती है। ऐसी प्रवृत्ति ही विविध वासनाओं का कारण होती है। प्राणी जान सके या नहीं, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का कारण उसके राग और द्वेष ही होते हैं।

मकड़ी जैसे अपनी प्रवृत्ति से अपने बनाये हुए जाल में फँसती रहती है, वैसे ही जीव भी अपनी प्रवृत्ति से कर्म के जाल को अज्ञान मोहवश रच लेता है और उसमें फँसता रहता है। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं, सो वे भी राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही। राग की या द्वेष की मात्रा बढ़ी कि ज्ञान विपरीत रूप में बदलने लगता है।

इसमें शब्द भेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध में अन्य किसी भी आस्तिक दर्शन के साथ जैन दर्शन का कोई मतभेद नहीं है। नैयायिक और वैशेपिक दर्शनों में मिथ्याज्ञान को, योग दर्शन में प्रकृति और पुरुप के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि दर्शनों में अविद्या को और जैनदर्शन में मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का कारण बतलाया है, लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चा[illegible] कि किसी को भी कर्म का कारण क्यों न कहा जाय पर यदि उसमें कर्म

बंधकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही। राग-द्वेष का अभाव होते ही अज्ञानपना (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा वध्यते जन्तु' इस कथन में भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष से ही है।

इस प्रकार मिथ्यात्वादि किसी नाम से कहें या राग-द्वेष कहें, ये सब भाव कर्म कहलाते हैं। अब द्रव्यकर्म का विवेचन करते हैं।

द्रव्यकर्म—पूर्वोक्त कथन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष जनित शारीरिक-मानसिक प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होता है। वैसे तो प्रत्येक क्रिया कर्मोपार्जन का कारण होती है, लेकिन जो क्रिया कषायजनित होती है, उससे होने वाला कर्मबन्ध विशेष बलवान होता है और कषायरहित क्रिया से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल और अल्पायु होता है, उसे नष्ट करने में अल्प शक्ति और अल्प समय लगता है।

जैनदर्शन में कर्मबन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। उसकी मान्यतानुसार संसार में दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं—(१) चेतन और (२) अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पांच प्रकार के हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल। इनमें से प्रथम चार प्रकार के द्रव्य अमूर्तिक एवं अरूपी हैं। अतः वे इन्द्रियों के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है और पकड़ा तथा छोड़ा भी जाता है। 'पूरणाद्गलनाद् पुद्गलः' इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और बिछुड़ना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्य रूप वर्गणाएँ होती हैं। इनमें से एक कर्म-वर्गणाएँ भी हैं। लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ ये कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ—पुद्गल परमाणु विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन अथवा काय से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है और जितने क्षेत्र अर्थात् प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान वे पुद्गल परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किये जाते हैं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में

अधिकता होने पर परमाणुओं की संख्या में भी अधिकता होती है और प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर परमाणुओं की संख्या में न्यूनता होती है और इन गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्म-रूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्यकर्म कहलाता है।

चार बंध

इन द्रव्यकर्मों का क्रमशः प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, अनुभागबंध और स्थितिबंध-इन चार भेदों में वर्गीकरण कर लिया जाता है।

प्रकृतिबंध— बद्ध कर्म परमाणुओं की आत्मा के ज्ञान आदि गुणों के आवरण रूप में परिणत होना प्रकृतिबंध कहलाता है।

प्रदेशबंध—गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्मरूप से आत्मा के साथ बद्ध होना प्रदेशबन्ध है।

अनुभागबंध—कर्म-रूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं के फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मंदता का निश्चय करना अनुभागबंध है।

स्थितिबंध—कर्म-विपाक (कर्मफल) के काल की मर्यादा को बताना स्थितिबंध कहलाता है।

प्रकृतिबंध में कर्म परमाणुओं की प्रकृति अर्थात् स्वभाव का विचार किया जाता है। प्रदेशबंध में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले कर्मों के परमाणुओं की संख्या अर्थात् उनमें से प्रत्येक के कितने कर्म प्रदेश हैं एवं उनका तुलनात्मक अनुपात क्या है, का कथन होता है। अनुभागबंध एवं स्थितिबंध में क्रमशः कर्मों के फल देने की शक्ति की तीव्रता-मंदता आदि का निश्चय और कर्मफल के काल—समय-स्थिति का दिग्दर्शन किया जाता है।

इनमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध आत्मा की योग और कषाय रूप परिणति में से योग से और अनुभाग व स्थितिबंध कषाय से होते हैं। कषाय के अभाव में कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रह सकते हैं। जैसे सूखे वस्त्र पर धूल अच्छी तरह न चिपकते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है, वैसे ही आत्मा में कषाय की आर्द्रता न होने पर कर्म परमाणु भी सम्बद्ध न होते हुए उसका स्पर्श कर अलग हो जाते हैं।

मन, वचन, काया रूप योगों की परिस्पन्दनात्मक क्रिया प्रतिक्षण होती

रहती है, किन्तु उन्हें कषायों का सहयोग न मिले तो वे कर्मबंध के लिए सक्रिय योग नहीं दे पाते हैं। इसलिए यत्नपूर्वक होनेवाली चलने-फिरने रूप आवश्यक क्रियाओं से होनेवाला निर्बल कर्मबन्ध असांपरायिक बंध कहलाता है और कषायों सहित होने वाली योग की प्रवृत्ति को सांपरायिक वंध कहते हैं। असांपरायिक-वंध भवभ्रमण का कारण नहीं होता और सांपरायिक वंध से ही प्राणी संसार में परिभ्रमण करता है।

प्रकृतिबंध का विवेचन

आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मपरमाणुओं में आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को आवृत करने की शक्तियाँ (स्वभाव) उत्पन्न होती हैं। उसे प्रकृतिवंध के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्मा में अनन्तगुण हैं। अतः उनको आवृत करने वाले कर्मों के स्वभाव भी अनन्त माने जाते हैं, लेकिन उन सवका निम्नलिखित आठ कर्मों में समाहार कर लिया जाता है। जिनके नाम क्रमशः ये हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अंतराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं और शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाती प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

घाती प्रकृतियों से आत्मा के चार मूल गुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य शक्ति) का घात होता है, अर्थात् ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है। दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है। मोहनीय सुख—आत्मसुख के लिए घातक है और अन्तराय द्वारा आत्मा के वीर्य—शक्ति का घात होता है। आत्मा के मूल गुणों को आवृत करने, घात करने से इन चार को घाती कर्मप्रकृति कहते हैं। इन चार घाती प्रकृतियों के उत्तर भेदों में से कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो आंशिक—एकदेश-घात करती हैं, अतः उनको देशघाती और कुछ पूर्णतः-सर्वांश घात करने वाली होने से सर्वघाती कही जाती हैं।

अघाती कर्मप्रकृतियां आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती है, लेकिन वे आत्मा को ऐसा रूप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु पौद्गलिक-भौतिक है। वेदनीय अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख का कारण है। आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नाम के द्वारा

जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं और गोत्र प्राणियो
उच्चत्व नीचत्व का कारण होता है।

उक्त घाती और अघाती रूप में कही गई ज्ञानावरण आदि मूल कर्मों की कु
मिलाकर १५८ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१)	ज्ञानावरणीय कर्म	५
(२)	दर्शनावरणीय कर्म	९
(३)	वेदनीय कर्म	२
(४)	मोहनीय कर्म	२८
(५)	आयु कर्म	४
(६)	नाम कर्म	१०३
(७)	गोत्र कर्म	२
(८)	अन्तराय कर्म	५
	योग	१५८

उक्त १५८ प्रकृतियों के नाम और लक्षण इसी ग्रन्थ (कर्मविपाक, प्रथम कर्मग्रन्थ) में कहे गये हैं, अतः जिज्ञासु जनों द्वारा वहाँ द्रष्टव्य हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के मतिज्ञानादि ज्ञानगुण को आवृत करता है, जिससे वह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का स्पष्ट रूप से ज्ञान करने में समर्थ नहीं होता है।

दर्शनावरणीय कर्म के कारण आत्मा पदार्थों के सामान्य वोधरूप होने वाले दर्शन को नहीं कर पाता है।

दर्शनावरणीय कर्म का कार्य होने से इसमें निद्रा आदि पाँच निद्राओं को भी ग्रहण किया गया है। इनके सद्भाव में भी आत्मा सामान्यावलोकनरूप कार्य करने में अक्षम रहता है।

वेदनीय कर्म के उदय से अनुकूल-प्रतिकूल विपयजन्य सुख-दुःख का वेदन तो होता रहता है, किन्तु आत्मा को विपय-निरपेक्ष स्वस्वरूप-सुख का वेदन नहीं हो पाता है।

मोहनीय कर्म के द्वारा आत्मा के तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यक्त्व और [illegible]

स्वरूप प्राप्ति रूप चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है। मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ये दो मुख्य उत्तर भेद हैं और इन दो उत्तर भेदों में से सम्यक्त्व मोहनीय के तीन और चारित्र मोहनीय के कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय और इन दोनों में से कषाय मोहनीय के सोलह तथा नोकषाय मोहनीय के नौ भेद होते हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के सम्यक्त्व मोहनीय के तीन, कषाय-मोहनीय के सोलह और नोकषाय मोहनीय के नौ भेद मिलाने से कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

आयु कर्म के सद्भाव से प्राणी जीता है और क्षय से मरता है। आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से जो आयु कम हो जाती है, अर्थात् नियत समय से पूर्व समाप्त हो जाती है, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। इसको प्रचलित भाषा में अकालमरण भी कहते हैं। जो आयु किसी भी कारण से कम न हो अर्थात् नियत समय पर समाप्त हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। आयुकर्म के चार भेद हैं।

नाम कर्म के कारण प्राणियों में शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है और जिससे उनका वह नाम कहलाता है। इसकी एक सौ तीन प्रकृतियाँ हैं। ये प्रकृतियाँ—पिण्ड प्रकृतियाँ, प्रत्येक प्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक इन चार भागों में विभक्त हैं।

गोत्र कर्म के उदय से जीव उत्तम अथवा नीच कुल में जन्म लेता है। उत्तम कुल का अर्थ है संस्कारी एवं सदाचारी कुल और नीच कुल का अर्थ है असंस्कारी एवं आचारहीन कुल।

अन्तराय कर्म के कारण जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-शक्ति में चाहते हुए भी रुकावट आती है।

इन आठों कर्मों के उत्तर भेद कुल मिलाकर १५८ होते हैं। उनकी संख्या पहले बताई जा चुकी है।

प्रदेशबन्ध का वर्णन

जीव अपनी कायिक आदि क्रियाओं द्वारा जितने कर्मप्रदेशों, अर्थात् कर्मपरमाणुओं का संग्रह करता है, उसको प्रदेशबंध कहते हैं। वे प्रदेश विविध प्रकार के कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ संबद्ध रहते हैं। उनमें

से आयुकर्म को सबसे कम हिस्सा और आयुकर्म की अपेक्षा नाम कर्म को कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। गोत्र कर्म का हिस्सा नाम कर्म के बराबर है। इससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय को प्राप्त होता है। इन तीनों का भाग समान रहता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म को प्राप्त होता है और सबसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर प्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के वद्ध कर्म के प्रदेशों की न्यूनाधिकता का यही आधार है।

स्थिति बन्ध का वर्णन

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की अधिकतम और न्यूनतम समय की विभिन्न स्थितियाँ (उदय में रहने का काल) निम्न प्रकार से कर्म साहित्य में वतलाई गई हैं—

कर्म-नाम	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
(१) ज्ञानावरणीय	३० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(२) दर्शनावरणीय	"	"
(३) वेदनीय	"	१२ मुहूर्त
(४) मोहनीय	७० कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
(५) आयु	३३ सागरोपम	"
(६) नाम	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहूर्त
(७) गोत्र	"	८ मुहूर्त
(८) अन्तराय	३० "	अन्तर्मुहूर्त

सागरोपम आदि समय के विविध भेदों के स्वरूप को समझने के लिए अनुयोगद्वार आदि सूत्रों का अवलोकन करना चाहिए। इससे कालगणना विषयक जैन मान्यता का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

अनुभागवंध (तीव्रता-मंदता) का वर्णन

कर्मफल की तीव्रता और मंदता का आधार तन्निमित्तक कषायों की तीव्रता और मंदता है। यदि प्राणी जितनी अधिक कषाय की तीव्रता से युक्त होगा, उसके पापकर्म अर्थात् अशुभ कर्म उतने ही प्रवल एवं पुण्यकर्म अर्थात शुभकर्म

उतने ही निर्बल होंगे और इसके विपरीत जो प्राणी जितना कषाय से मुक्त एवं विशुद्ध परिणाम वाला होगा, उसके पुण्यकर्म उतने ही अधिक प्रबल एवं पाप-कर्म उतने ही अधिक निर्बल होंगे।

जैन-कर्मशास्त्र के अनुसार कर्मफल की तीव्रता और मन्दता के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इनका सम्बन्ध कर्म के बंध, उदय, परिवर्तन, सत्ता, क्षय आदि से है। जिनका मोटे तौर पर निम्नलिखित ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं—

(१) बंधन, (२) सत्ता, (३) उदय, (४) उदीरणा, (५) उद्वर्तना, (६) अपवर्तना, (७) संक्रमण, (८) उपशमन, (९) निधत्ति, (१०) निकाचन और (११) अबाधा।

(१) **बंधन**—आत्मा के साथ कर्मपरमाणुओं का बँधना, अर्थात् नीरक्षीरवत् एक रूप हो जाना बंधन कहलाता है। बंधन चार प्रकार का होता है—प्रकृति-बंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

(२) **सत्ता**—बद्ध कर्मपरमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षयपर्यन्त आत्मा में संबद्ध रहते हैं। इस अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए भी विद्यमान रहते हैं।

(३) **उदय**—कर्म की फल प्रदान करने की अवस्था को उदय कहते हैं। उदय में आनेवाले कर्म-पुद्गल अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं।

(४) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न द्वारा नियत समय से पहले फल पकाये जा सकते हैं, उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पहले बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता है। सामान्यतया जिस कर्म का उदय चालू रहता है, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा संभव होती है।

अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है। इस अवस्था का अर्थ है कि कर्म का जिस रूप में बंध हुआ, उसी रूप में उसे अनिवार्यत: भोगना। इस अवस्था का नाम नियति भी कह सकते हैं। किसी-किसी कर्म की यह अवस्था भी होती है।

(११) **अबाध**—कर्म के बँधने के वाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना, अबाध अवस्था है। इस अवस्था के काल को अवाधा काल कहते हैं।

अन्य-अन्य दार्शनिक परम्पराओं में उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए संचित, बंधन के लिए आगामी या क्रियमाण, निकाचन के लिए नियत विपाकी, संक्रमण के लिए आवापगमन, उपशमन के लिए तनु आदि शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

बध, उदय-उदीरणा, सत्ता का स्पष्टीकरण

आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से बंध आदि में कितनी-कितनी प्रकृतियां होती हैं, इसका विशद वर्णन जैन कर्मशास्त्रों में किया गया है। तदनुसार बंध में १२०, उदय और उदीरणा में १२२ और सत्ता में १५८ प्रकृतियाँ मानी गई हैं।

उक्त कथन का स्पष्टीकरण यह है कि सत्ता में तो समस्त १५८ प्रकृतियाँ होती हैं, जबकि उदय और उदीरणा में १५ वंधन और ५ संघातन नाम कर्म की २० प्रकृतियाँ अलग से नहीं गिनी जातीं, किन्तु इनका औदारिक आदि पाँच शरीर नामकर्मों में ही समावेश कर दिया जाता है तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-नाम कर्म की इन चार पिंड प्रकृतियों की २० उत्तर प्रकृतियों के स्थान पर केवल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं। इस प्रकार कुल १५८ प्रकृतियों में से नाम-कर्म की ३६ (२० और १६) प्रकृतियाँ कम कर देने से १२२ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं, जो उदय और उदीरणा में आती हैं। बंधावस्था में १२० प्रकृतियों का अस्तित्व मानने का कारण यह है कि उदय-उदीरणायोग्य १२२ प्रकृतियों में से दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का अलग से बंध न होकर सिर्फ मिथ्यात्व मोहनीय के रूप में ही बंध होता है, क्योंकि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय की ही विशोधित

अवस्थाएँ हैं। अतएव इन दो प्रकृतियों को उदय-उदीरणा की उपर्युक्त १२२ प्रकृतियों में से कम कर देने पर १२० प्रकृतियाँ शेष बचती हैं, जो बंधावस्था में विद्यमान रहती हैं। निम्नलिखित तालिका से सत्ता आदि अवस्थाओं में विद्यमान रहनेवाली प्रकृतियों की संख्या का स्पष्टतया परिज्ञान हो जाता है—

कर्म का नाम	वंध	उदय-उदीरणा	सत्ता
(१) ज्ञानावरणीय कर्म	५	५	५
(२) दर्शनावरणीय कर्म	९	९	९
(३) वेदनीय कर्म	२	२	२
(४) मोहनीय कर्म	२६	२८	२८
(५) आयु कर्म	४	४	४
(६) नाम कर्म	६७	६७	१०३
(७) गोत्र कर्म	२	२	२
(८) अन्तराय कर्म	५	५	५

कर्मक्षय की प्रक्रिया

योग और कषाय के द्वारा प्रतिक्षण संसारी प्राणी कर्मवन्ध करता रहता है उसी प्रकार कर्मक्षय का भी क्रम निरन्तर चालू रहता है।

कर्म वँधते ही अपना फल देना प्रारम्भ नहीं कर देते हैं—कुछ समय ऐसे ही पड़े रहते हैं। इस फलहीन स्थिति को आवाधा काल कहते हैं। आवाधा काल के व्यतीत होने पर वद्ध कर्म का फल देना प्रारम्भ होता है, जिसे उदय कहते हैं। प्रत्येक कर्म अपनी वंध स्थिति के अनुसार उतने समय तक उदय में आता है और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाता है, जिसे निर्जरा कहते हैं, अर्थात् कर्मस्थिति के वरावर ही कर्म-निर्जरा का भी समय है। जव आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तव प्राणी सर्वांशतः कर्ममुक्त होकर अपने सत्-चित्-आनन्दघन-रूप स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

कर्मों के वंध और क्षय का क्रम संसारी जीव के द्वारा सदैव चलता रहता है। समस्त संसारी जीव नरकादि चार गतियों में से किसी-न-[illegible] ि के धारक होते हैं, वहाँ उनकी कितनी इन्द्रियाँ होती हैं, कौन-सा

कितने योग आदि होते हैं, इस प्रकार का वर्गीकरण जैन-कर्मशास्त्र में मार्गणा द्वारा किया गया है। मार्गणा के निम्नलिखित चौदह भेद हैं—

गति, इन्द्रिय, शरीर, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक। प्रत्येक के साथ मार्गणा शब्द जोड़ देने से पूरा नाम हो जाता है; जैसे—गति मार्गणा, इन्द्रिय मार्गणा आदि।

इन मार्गणाओं के माध्यम से समस्त संसारी जीवों के शरीर आदि बाह्य स्थिति और आन्तरिक ज्ञान-शक्ति आदि का पूर्णतया वर्गीकरण हो जाता है। जैसे नारक गति वाला जीव है तो उसके कौन-सा शरीर होगा, कितनी इन्द्रियाँ होंगी, इस बाह्य स्थिति के साथ ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि की कितनी क्षमता है, स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार की बाह्य और आन्तर स्थिति के होने पर प्रत्येक जीव किस स्थिति वाले कर्मों का बंध करता है और क्रमशः निर्जरा करते हुए आत्मा में कहाँ तक विशुद्धता ला सकता है और इस विशुद्धता के फलस्वरूप क्रमशः कर्मों के क्षय का क्रम तथा विशुद्धि से प्राप्त गुणों के स्थान आदि का वर्णन कर्मशास्त्र में गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है। ये गुणस्थान भी मार्गणाओं की तरह चौदह होते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र (सम्यग्-मिथ्यादृष्टि), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत, निवृत्ति (अपूर्वकरण), अनिवृत्तबादर संपराय, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त कषाय-छद्मस्थ, क्षीणकषायवीतराग-छद्मस्थ, सयोगि केवलि, अयोगि-केवलि। प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ने से उसका पूरा नाम हो जाता है; जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन गुणस्थान आदि।

ये गुणस्थान जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से होते हैं। इनमें मिथ्यात्व गुणस्थान अशुद्धतम और अयोग केवलि गुणस्थान शुद्धतम दशा है। संसारी जीव अशुद्धि से शुद्धि की ओर बढ़ते हुए जैसे-जैसे कर्मों का क्षय करता जाता है, वैसे-वसे शुद्धि भी बढ़ती जाती है और शुद्धि के बढ़ने से कर्मों का क्षय अधिक और कर्मों का बंध कम होता जाता है। बंध कम और क्षय अधिक होने से एक ऐसा समय आ जाता

है, जब संसारी जीव समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त अवस्था को प्राप्त कर जन्म-मरण-रूप संसार से सदा के लिए छूट जाता है।

इस प्रकार से जैन-कर्मशास्त्र में मार्गणाओं के द्वारा समस्त संसारी जीवों का वर्गीकरण किया गया है और गुणस्थानों के द्वारा क्रमिक शुद्धि का क्रम बतलाते हुए पूर्ण शुद्ध अवस्था का चित्रण है।

कर्मक्षय करने के साधन

यह विचार करना जरूरी है कि जो कर्म-आवृत जीव अपने परमात्मभाव को प्रगट करना चाहते हैं, उनके लिए किन साधनों की अपेक्षा है।

जैन-दर्शन में परम पुरुषार्थ—मोक्ष पाने के तीन साधन बतलाये गये हैं—(१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित्र। कहीं-कहीं ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा गया है, तो ऐसे स्थलों पर समझना चाहिए कि दर्शन को ज्ञान स्वरूप समझकर उससे भिन्न नहीं गिना है।

उक्त सन्दर्भ में यह प्रश्न होता है कि वैदिकदर्शनों में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारों को मोक्ष का साधन-माना है, फिर जैनदर्शन में तीन या दो ही साधन क्यों कहे गये हैं? इसका समाधान यह है कि जैनदर्शन में जिस सम्यक् चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमें कर्म और योग—दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है; क्योंकि सम्यक् चारित्र में मनोनिग्रह, इन्द्रियजय, चित्त-शुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जाने वाले उपायों का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रियजय आदि सात्त्विक कार्य ही कर्ममार्ग है और चित्तशुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन भक्तिमार्ग है; क्योंकि भक्ति में श्रद्धा का अंश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञान-मार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन में बताये गये मोक्ष के तीन साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र—अन्य दर्शनों के सब साधनों का समुच्चय है।

जैनदर्शन में कर्मतत्त्व-विषयक विवेचना का सारांश

जैनदर्शन में प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हैं। इन्हें क्रमशः बंध, सत्ता और उदय कहते हैं। अन्य दार्शनिकों ने भी इन तीन अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न नामों से कथन किया है। जैनशास्त्र में

ज्ञानावरणीय आदि रूप से कर्म का आठ तथा एकसौ अट्ठावन भेदों में वर्गीकरण किया है और इनके द्वारा संसारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का जैसा खुलासा किया है, वैसा किसी अन्य दर्शन में नहीं किया गया है। पातंजलदर्शन में कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बताये गये हैं, किन्तु जैनदर्शन में कर्म के सम्बन्ध में किये गये विचार के सामने यह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बंध कैसे होता है? किन-किन कारणों से होता है? किस कारण से कर्म में कैसे शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक-से-अधिक और कम-से-कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म परिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म अन्य कर्म रूप कब बन सकता है? उसकी बंधकालीन तीव्र-मन्द शक्तियां किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है? कितना भी बलवान कर्म क्यों न हो पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामों से कैसे रोक दिया जाता है? कभी-कभी आत्मा के शतशः प्रयत्न करने पर भी क्या कर्म का विपाक बिना भोगे नहीं छूटता? आत्मा किस तरह कर्म का कर्ता और किस तरह भोक्ता है? इतना होने पर भी वस्तुतः आत्मा में कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस प्रकार नहीं है? संक्लेश रूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस प्रकार डाल देते हैं? आत्मा वीर्य शक्ति के आविर्भाव द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस प्रकार उठा फेंक देता है? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलीन-सा दीखता है? बाह्य हजारों आवरणों के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस प्रकार नहीं होता है? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देता है? वह अपने वर्तमान परमात्म भाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होता है, उस समय उसके और अंतराय भूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है? अन्त में वीर्यवान् आत्मा किस प्रकार के परिणामों से बलवान कर्मों

को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कंटक करता है ? आत्ममन्दिर में वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध परिणाम तरंग-माला के वैद्युतिक यंत्र से कर्म के पहाड़ों को किस प्रकार चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलांट खाकर कर्म ही, जो कुछ देर के लिए दबे होते हैं, प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म बंध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस बंध का बंध किस अवस्था में अवश्यंभावी और किस अवस्था में अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत में अनियत है ? आत्मसंबद्ध अतीन्द्रिय कर्म किस प्रकार की आकर्षण शक्ति से स्थूल पुद्‌गलों को खींचता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करता है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न जो कर्म से सम्बन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक विस्तृत वर्णन जैन-कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता है ? यही कर्म तत्त्व के विषय में जैन दर्शन की विशेषता है ।

भारतीय दर्शन-साहित्य में कर्मवाद का स्थान

श्रमण भगवान् महावीर तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन में स्याद्‌वाद, अहिंसावाद आदि वाद जैसे इसके महत्त्वपूर्ण अंगरूप हैं, वैसे ही और इतने ही प्रमाण में कर्मवाद भी उसका प्रधान अंग है । स्याद्‌वाद और अहिंसावाद की व्याख्या और वर्णन में जैसे जैनदर्शन ने विश्व-साहित्य में एक दृष्टिकोण अंकित किया है, उसी प्रकार कर्मवाद के व्याख्यान में भी उसने उतना ही कौशल और गौरव प्रदर्शित किया है । यही कारण है कि जैनदर्शन द्वारा की गई कर्मवाद की शोध और उसकी व्याख्या—इन दोनों को भारतीय दर्शन-साहित्य में उसके अनेकान्तवाद, अहिंसावाद आदि वादों के समान चिरस्मरणीय महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

जैनदर्शन में कर्मवाद का स्थान

सामान्यतया ऐसी मान्यता है कि जैनदर्शन कर्मवादी है । यद्य मान्यता असत्य तो नहीं है, तथापि इस मान्यता की ओट में एक

उत्पन्न हुई है कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है। इस सम्बन्ध में कहना चाहिए कि जैनदर्शन मात्र कर्मवादी है, ऐसा नहीं है, परन्तु वह संक्षेप में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के—

> **कालो सहाव नियई पुव्वकयं पुरिसकारणे गता।**
> **मिच्छत्तं ते चेवा समासओ होई सम्मत्तं॥**

—इस कथन के अनुसार कालवाद, स्वभाववाद आदि पाँच कारणवाद को मानने वाला दर्शन है। कर्मवाद उक्त पाँच कारणवादों में से एक वाद है। फिर भी उक्त भ्रान्त मान्यता उत्पन्न होने का मुख्य कारण यही है कि जैनदर्शन के द्वारा मान्य किये गये उक्त पाँच वादों में से कर्मवाद ने साहित्य-क्षेत्र में इतना स्थान रोक रखा है कि उसका शतांश जितना स्थान दूसरे किसी वाद ने नहीं रोका है। इससे ज्ञात हो सकेगा कि जैनदर्शन मात्र कर्मवाद को ही मानने वाला दर्शन नहीं है। परन्तु वह संक्षेप में पाँच कारणवाद को माननेवाला अनेकान्तवादी दर्शन है।

मौलिक जैन-कर्मसाहित्य

जैन-कर्मवाद का स्वरूप और उसकी व्याख्या वर्तमान में विद्यमान जैनागमों में पृथक्-पृथक् रूप से अमुक प्रमाण में संकेत रूप होने से वह जैन कर्मवाद की महत्ता के प्रकाशन में अंगरूप नहीं बन सकती है। इसी प्रकार जैन-आगमों में से कोई आगम ऐसा नहीं है, जो केवल कर्मवाद विषयलक्षी हो। इस स्थिति में सब कोई को यह जिज्ञासा सहज ही होती है और होनी चाहिए कि तब जैन-दर्शन के अंगभूत कर्मवाद के व्याख्यान का मूलस्थान कौन-सा है। इस विषय में जैन-कर्मवाद-विषयक साहित्य के व्याख्याता और प्रणेताओं का यह उत्तर है कि *जैन-कर्मवाद विषयक पदार्थों का मूलभूत विस्तृत और सम्पूर्ण व्याख्यान कर्मप्रवाद* पूर्व में, अर्थात् कर्मप्रवादपूर्व नामक महाशास्त्र में किया गया है। इस महाशास्त्र के आधार पर हमारा कर्मवाद का व्याख्यान, ग्रंथ रचना आदि है। आज यह मूल महाशास्त्र काल के प्रभाव से विस्मृति और विलुप्ति के मुख में चला गया है। आज हमारे समक्ष विद्यमान कर्मवाद-विषयक साहित्य पूर्वोक्त महाशास्त्र के आशय के आधार पर निर्माण किया गया अंश रूप साहित्य है। उक्त बताई गई महाशास्त्र की विस्मृति और अभाव में कर्म-साहित्य के निर्माताओं को कर्मवाद

विषयक कितनी ही वस्तुओं के व्याख्यान प्रसंग-प्रसंग पर छोड़ देने पड़े और कितनी ही वस्तुओं के विसंवादी प्रतीत होने वाले वर्णन श्रुतधरों पर छोड़ दिये गये हैं।

जैन-कर्मसाहित्य के प्रणेता

जैन-कर्मसिद्धान्त-विषयक साहित्य के पुरस्कर्ता आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो परम्पराओं में विभाजित हो जाते हैं, फिर भी कर्मवाद का व्याख्यान और वर्णन एक ही रूप में रहा। यही कारण है कि प्रत्येक तात्त्विक विषय में दोनों ही परम्पराएँ समान तंत्रीय मानी जाती हैं। इस साहित्य की विशेषता के विषय में भी दोनों परम्पराएँ समानान्तर पर हैं। इसके अतिरिक्त ग्रंथकर्ताओं के क्षयोपशमानुसार ग्रंथ-रचना और वस्तुवर्णन में सुगमता-दुर्गमता, न्यूनाधिकता, विशदता-अविशदता होगी और हो सकती है। लेकिन यथार्थ रीति से देखने पर दोनों में से किसी का भी कर्मवादविषयक साहित्य का गौरव कम नहीं माना जा सकता है। अवसरानुसार जैसा प्रत्येक विषय में होता है, वैसा ही कर्मवाद-विषयक साहित्य में भी दोनों सम्प्रदायों ने एक दूसरे की वस्तु ली है, वर्णन की है और तुलना भी की है। ऐसा करना यही सिद्ध करता है कि कर्म-वाद-विषयक साहित्य में दोनों में से किसी एक का गौरव कम नहीं है। दोनों सम्प्रदायों में कर्मवाद-विषयक निष्णात अनेक आचार्य हुए हैं, जिनके वक्तव्य में कहीं भी स्खलना नहीं आती है। कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह जैसे समर्थ ग्रंथ, उनका वर्ण्य विषय और उनका नामकरण आदि में भी दोनों सम्प्रदाय समानस्तर पर हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय में आचार्य शिवशर्मसूरि, चूर्णिकार आचार्य श्री चन्द्रर्षि महत्तर, श्री गर्गर्षि, नवांगीवृत्तिकार आचार्य श्री अभयदेवसूरि, श्री मुनिचन्द्रसूरि, मल्लधारि श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री चक्रेश्वरसूरि, श्री धनेश्वराचार्य, खरतर आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि, आचार्य मलयगिरि, श्री यशोदेवसूरि, श्री परमानन्द-सूरि, बृहद्गच्छीय श्री हरिभद्रसूरि, श्री रामदेव, तपागच्छीय आचार्य श्री देवेन्द्र-सूरि, श्री उदयप्रभ, श्री गुणरत्नसूरि, श्री मुनिशेखर, आगमिक श्री जयतिलकसूरि, न्यायविशारद न्यायाचार्य महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि अनेक मौलिक एवं व्याख्यात्मक कर्मवाद-विषयक साहित्य के प्रणेता और व्याख्याता निष्णात आचार्य व स्थविर हो गये हैं।

महान् आचार्य श्री सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंच कथा, मल्लधारी हेमचन्द्र-सूरि की भवभावना, मन्त्री यशपाल का मोहराज-पराजय नाटक, महामहोपाध्याय यशोविजयजी की वैराग्य कल्पलता आदि जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त को अति सूक्ष्मता से प्रस्तुत करनेवाली कृतियाँ भारतीय साहित्य में अद्वितीय स्थान शोभित कर रही हैं, जो जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त के लिए गौरवणीय हैं। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में भी श्री पुष्पदन्ताचार्य, श्री भूतवलि आचार्य, श्री कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्राचार्य, श्री गुणधराचार्य, श्री यति-वृषभाचार्य, श्री वीरसेनाचार्य, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती आदि कर्मवाद विषयक साहित्य के प्रमुख व्याख्याता पारंगत आचार्य और स्थविर हुए हैं। दोनों सम्प्रदाय के विद्वान् ग्रंथकारों ने कर्मवाद-विषयक साहित्य को प्राकृत-मागधी, संस्कृत एवं लोक-भाषा में अंकित करने का एक-जैसा प्रयत्न किया है। श्वेताम्बर आचार्यों ने कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह, प्राचीन-अर्वाचीन कर्मग्रंथ और उनके ऊपर चूर्णि, भाष्य, टीका अवचूर्णि, टिप्पण, टब्बा आदि रूप विशिष्ट कर्म साहित्य का सृजन किया है, जबकि दिगम्बर आचार्यों ने महाकर्म प्रकृति प्राभृत, कषाय-प्राभृत, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार, पंचसंग्रह आदि शास्त्र और उस पर मागधी, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं में व्याख्यात्मक विशाल कर्म साहित्य की रचना की है। कर्मवाद विषयक उपर्युक्त उभय परम्परा से सम्बन्धित साहित्य में अनेक प्रकार की विशेषताएं होने पर भी एक दूसरे सम्प्रदाय के साहित्य की तरफ दुर्लक्ष्य करना या उपेक्षा करना यह कर्म-विषयक अपूर्व ज्ञान से वंचित रहने जैसी ही वात है। अन्त में संक्षेप में इतना ही संकेत करते हैं कि जैनदर्शन मान्य कर्मवाद को पुष्ट वनाने में दोनों सम्प्रदायों ने एक महत्त्वपूर्ण योग दिया है।[1]

कर्मशास्त्र का परिचय

वैदिक और वौद्ध साहित्य में कर्म-सम्वन्धी विचार हैं, पर वह इतना अल्प

---

१. श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मवाद विषयक साहित्य का विशेप परिचय प्राप्त करने के लिये श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित और श्री चतुरविजयजी महाराज द्वारा संपादित 'सटीकश्चत्त्वारः प्राचीन कर्म-ग्रन्थाः' की प्रस्तावना देखें।

है कि उसका कोई खास ग्रन्थ उस साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता है। लेकिन जैन दर्शन में कर्म-सम्बन्धी विचार सूक्ष्म, व्यवस्थित और अति विस्तृत हैं। अतएव उन विचारों के प्रतिपादक शास्त्र ने जिसे कर्मशास्त्र या कर्म विषयक साहित्य कहते हैं, जैनसाहित्य के बहुत बड़े भाग को रोक रखा है। कर्मसाहित्य को जैन साहित्य का हृदय कहना चाहिए। यों तो अन्य विषयक जैन ग्रन्थों में भी कर्म की थोड़ी-बहुत चर्चा पाई जाती है परन्तु उसके स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अनेक हैं। भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया है और उसकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। लेकिन सम्प्रदाय-भेद, संकलना और भाषा की दृष्टि से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है।

(१) **सम्प्रदाय-भेद**—भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हुआ। उस समय कर्म शास्त्र भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय-भेद की नींव इस सुदृढ़ता से पड़ी कि जिससे भगवान महावीर के उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को कभी प्राप्त नहीं हुआ। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में कुछ मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों में, उनकी व्याख्याओं में और कहीं-कहीं तात्पर्य में थोड़ा-बहुत भेद हो गया, जिसकी परम्परा आज भी पूर्ववत् चल रही है। भेद विन्दुओं को यथास्थान आगे प्रस्तुत करेंगे।

(२) **संकलना**—भगवान महावीर के समय से अब तक कर्मशास्त्र की जो उत्तरोत्तर संकलना होती आई है, उसके स्थूल दृष्टि से तीन विभाग बतलाये जा सकते हैं—(क) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (ख) पूर्व से उद्धृत (आकर रूप कर्मशास्त्र), और (ग) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(क) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबसे बड़ा और सबसे पहला है, क्योंकि इसका अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक कि पूर्व विद्या विच्छिन्न नहीं हुई थी। भगवान् महावीर के बाद करीब नौ सौ या एक हजार वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप से पूर्व विद्या वर्तमान रही। चौदह में से आठवाँ पूर्व जिसका नाम कर्मप्रवाद है, मुख्यतया कर्मविषयक ही था, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरे पूर्व 'अग्रायणीय' में भी कर्मतत्त्व के विचार का एक कर्म-

नामक भाग था। इस समय श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का मूल अंश वर्तमान नहीं है।

(ख) **पूर्व से उद्धृत (आकर रूप) कर्मशास्त्र**—यह विभाग पहले विभाग से बहुत छोटा है, तथापि वर्तमान अभ्यासियों के लिए इतना बड़ा है कि उसे आकर कर्मशास्त्र कहना पड़ता है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है, ऐसा उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर—दोनों के ग्रन्थों में पाया जाता है। पूर्व से उद्धृत किये गये कर्मशास्त्र का अंश दोनों सम्प्रदायों में अभी वर्तमान है। उद्धार के समय सम्प्रदाय-भेद रूढ़ हो जाने से उद्धृत अंश दोनों सम्प्रदायों में कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—(१) कर्म प्रकृति, (२) शतक, (३) पंचसंग्रह और (४) सातनिका—ये चार ग्रंथ और दिगम्बर सम्प्रदाय में—(१) महाकर्म प्रकृति प्राभृत तथा (२) कषाय प्राभृत—ये दो ग्रंथ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं।

(ग) **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह विभाग तीसरी संकलना का फल है। इसमें कर्मविषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रंथ सम्मिलित हैं। इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन इस समय विशेषतया प्रचलित है। इन प्रकरण-ग्रन्थों को पढ़ने के बाद मेधावी अभ्यासी आकर-ग्रन्थों को पढ़ते हैं। आकर-ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिए पहले प्राकरणिक विभाग का अध्ययन करना जरूरी है। यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र का विभाग विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी तक में निर्मित व पल्लवित हुआ है।

भाषा—भाषा की दृष्टि से कर्मशास्त्र को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(क) प्राकृतभाषा, (ख) संस्कृतभाषा और (ग) प्रचलित प्रादेशिक भाषा।

(क) **प्राकृत भाषा**—पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र प्राकृत भाषा में बने है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा में ही रचा हुआ मिलता है। मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके ऊपर टीका-टिप्पणी भी प्राकृत भाषा में हैं।

(ख) **संस्कृत भाषा**—पुराने समय में जो कर्मशास्त्र बना है, वह सब प्राकृत भाषा में ही है, किन्तु पीछे से संस्कृत भाषा में भी कर्मशास्त्र की रचना होने लगी। बहुतकर संस्कृत भाषा में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पणी आदि ही लिखी गई हैं। परन्तु कुछ मूल प्राकरणिक कर्मशास्त्र दोनों सम्प्रदायों में ऐसे भी हैं, जो संस्कृत भाषा में रचे गये हैं।

(ग) **प्रचलित प्रादेशिक भाषा**—प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं में मुख्यतया—कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी—इन तीन भाषाओं का समावेश है। इन भाषाओं में मौलिक ग्रन्थ नाम मात्र के हैं। इन भाषाओं का उपयोग मुख्यतया मूल तथा टीका के अनुवाद करने में ही किया गया है। विशेषकर इन प्रादेशिक भाषाओं में वही टीका-टिप्पण, अनुवाद आदि हैं जो प्राकरणिक कर्मशास्त्र विभाग पर लिखे गये हैं। कर्णाटिकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्य ने लिया और गुजराती व राजस्थानी भाषा श्वेताम्बर साहित्य में प्रयुक्त हुई।

कर्मविपाक ग्रन्थ : ग्रन्थ का परिचय

विश्व में प्रतिष्ठित धर्मों का साहित्य दो भागों में विभाजित है—(१) तत्त्वज्ञान, (२) आचार व क्रिया। ये दोनों विभाग एक दूसरे से बिलकुल अलग नहीं हैं। इनका सम्बन्ध वैसा ही है, जैसा शरीर में नेत्र-और हाथ-पैर आदि अन्य अवयवों का। जैन-साहित्य भी तत्त्व ज्ञान और आचार इन दोनों विभागों में बँटा हुआ है। यह ग्रन्थ पहले विभाग से सम्बन्ध रखता है। यों तो जैन दर्शन में अनेक तत्वों पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में उन सबका वर्णन नहीं है। प्रधानतया कर्मतत्त्व का वर्णन है। आत्मवादी सभी दर्शन किसी-न-किसी रूप में कर्म को मानते हैं। परन्तु जैन-दर्शन इस सम्बन्ध में अपनी असाधारण विशेषता रखता है। इसलिए इस ग्रन्थ को जैनदर्शन की विशेषता का, जैनदर्शन के विचारणीय तत्त्व का ग्रन्थ कहना चाहिए।

इस ग्रन्थ का अधिक परिचय प्राप्त करने के लिए इसके नाम, विषय, वर्णन क्रम, रचना का मूलाधार, परिभाषा और कर्ता आदि बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है।

नाम—इस ग्रन्थ के 'कर्मविपाक' और 'प्रथम कर्मग्रन्थ'— इन दो नामों में से पहला नाम तो विषयानुरूप है तथा उसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने आदि में 'कम्मविवागं समासओ वुच्छं' तथा अन्त में ''इअ कम्मविवागोऽयं' इस कथन से स्पष्ट कर दिया है। परन्तु दूसरे नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। दूसरा नाम केवल इसलिए प्रचलित हो गया है कि कर्मस्तव आदि अन्य कर्मविषयक ग्रन्थों में यह पहला है, इसके पढ़े बिना कर्मस्तव आदि अगले प्रकरणों में प्रवेश नहीं हो सकता है। यह नाम इतना प्रसिद्ध है कि पढ़ने-पढ़ाने वाले तथा अन्य लोग प्राय: इसी नाम का व्यवहार करते हैं। पहला कर्मग्रंथ इस प्रचलित नाम से मूल नाम यहाँ तक अप्रसिद्ध हो गया है कि कर्मविपाक कहने से बहुत-से लोग कहने वाले का आशय ही नहीं समझते हैं। यह बात इस प्रकरण के विषय में ही नहीं, बल्कि कर्मस्तव आदि आगे के प्रकरणों के बारे में चरितार्थ होती है, अर्थात् कर्मस्तव, कर्मस्वामित्व, षडशीतिका, शतक और सप्ततिका कहने से क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे प्रकरण का मतलब बहुत कम लोग समझेंगे, परन्तु दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा कर्मग्रन्थ कहने से सब लोग कहने वाले का भाव समझ लेंगे।

विषय—इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय कर्म तत्त्व है, परन्तु इसमें कर्म से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों पर विचार न करके प्रकृति अंश पर ही विचार किया गया है, अर्थात् कर्म की सब प्रकृतियों का विपाक ही इसमें मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी अभिप्राय से इसका नाम भी कर्मविपाक रखा गया है।

वर्णनक्रम—इस ग्रन्थ में सबसे पहले यह दिखाया गया है कि कर्मबन्ध स्वाभाविक नहीं, किन्तु सहेतुक है। इसके बाद कर्म का स्वरूप परिपूर्ण बताने के लिए उसे चार अंशों में विभाजित किया गया है—(१) प्रकृति, (२) स्थिति, (३) रस और (४) प्रदेश। इसके बाद आठ प्रकृतियों के नाम और उनके उत्तर-भेदों की संख्या बताई गई है। अनन्तर ज्ञानावरणीय कर्म के स्वरूप को दृष्टान्त, कार्य और कारण द्वारा दिखाने के लिए प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पाँच भेदों और उनके अवान्तर भेदों को संक्षेप में परन्तु तत्त्व रूप से दिखाया है। ज्ञान का निरूपण करके उसके आवरणभूत कर्म का सदृष्टान्त स्पष्टीकरण किया है।

अनन्तर दर्शनावरण कर्म को दृष्टान्त द्वारा समझाया है। बाद में उसके भेदों को दिखाते हुए दर्शन शब्द का अर्थ बतलाया है। दर्शनावरणीय कर्म के भेदों में पाँच प्रकार की निद्राओं का सर्वानुभवसिद्ध स्वरूप संक्षेप में, पर, बड़ी मनोरंजकता से वर्णन किया है। इसके बाद क्रम से सुख-दुख-जनक वेदनीय कर्म, सद्विश्वास और सच्चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म, अक्षय जीवन के विरोधी आयुकर्म, गति, आदि अनेक अवस्थाओं के जनक नाम-कर्म, उच्च-नीच गोत्र जनक गोत्र कर्म और लाभ आदि में रुकावट डालने वाले अन्तराय कर्म तथा उनके प्रत्येक कर्म के भेदों का थोड़े में किन्तु अनुभवसिद्ध वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक कर्म के कारण को दिखाकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रधान विषय कर्म का विपाक है तथा प्रसंगवश इसमें जो कुछ कहा गया है, उस सबको संक्षेप में पाँच भागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्रत्येक कर्म प्रकृति आदि चार अंशों का कथन, (२) कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ, (३) पाँच प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का वर्णन, (४) सब प्रकृतियों का दृष्टान्त पूर्वक कार्यकथन और (५) सब प्रकृतियों के कारण का कथन।

आधार—बीज-रूप से इस ग्रन्थ का आधार पन्नवणा, भगवती, नन्दी, अनुयोग द्वार आदि आगम हैं। आगमगत कर्मसिद्धान्त को ही आचार्य ने अपनी कुशल प्रतिपादन शैली द्वारा पल्लवित किया है। आगमों के बाद इसका साक्षात् आधार गर्ग ऋषि का बनाया हुआ प्राचीन कर्मविपाक है और कर्म प्रकृति, पंच संग्रह आदि प्राचीन ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है। प्राचीन कर्मग्रन्थ १६६ गाथा प्रमाण होने से पहले पहल कर्मशास्त्र में प्रवेश करने वालों के लिए बहुत विस्तृत हो जाता है, इसलिए इसका संक्षेप केवल ६१ गाथाओं में कर दिया गया है। इतना संक्षेप होने पर भी इसमें प्राचीन कर्मविपाक की कोई भी मुख्य और तात्त्विक बात नहीं छूटी है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने यहाँ तक ध्यान रखा है कि कुछ अति उपयोगी नवीन विषय, जिनका वर्णन प्राचीन कर्मविपाक में नहीं, इस ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिया है; उदाहरणार्थ—श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद तथा आठ कर्म प्रकृतियों के बन्ध हेतु प्राचीन कर्म-विपाक में नहीं हैं, किन्तु उनका वर्णन इसमें है। संक्षेप करने में ग्रन्थकार ने इस ओर

भी ध्यान रखा है कि जिस एक बात का वर्णन करने से अन्य बातें भी समानता के कारण सुगमता से समझी जा सकें, वहाँ उसी बात को बतलाना, अन्य को नहीं। इस अभिप्राय से प्राचीन कर्मविपाक में जैसे प्रत्येक मूल या उत्तर प्रकृति का विपाक दिखाया हैं, वैसे इस ग्रन्थ में नहीं दिखाया है। परन्तु आवश्यक वक्तव्य में कुछ भी कमी नहीं की गई है। इसी से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण में हो गया है। इसके पढ़ने वाले प्राचीन कर्मविपाक को बिना टीका-टिप्पण के अनायास ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ संक्षेप रूप होने से सबको मुखपाठ करने व याद करने में बड़ी आसानी होती है।

भाषा—इस कर्मग्रन्थ और इससे आगे के अन्य सभी कर्मग्रन्थों की मूल भाषा प्राकृत है। मूल गाथाएँ ऐसी सुगम भाषा में रची गई हैं कि पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत संस्कृत का बोध हो, और उन्हें कुछ प्राकृत के नियम समझा दिये जाएँ तो वे मूल गाथाओं के ऊपर से ही विषय का परिज्ञान कर सकते हैं। इनकी टीका संस्कृत में है और बड़ी विशदता से लिखी गई है, जिससे पढ़ने वालों को बड़ी सुगमता होती है।

ग्रन्थकार की जीवनी

समय—प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का अन्त और चौदहवीं शताब्दी का-प्रारम्भ काल है। उनका स्वर्गवास विक्रम संवत् १३३७ में हुआ, ऐसा उल्लेख गुर्वावली (श्लोक १७४) में स्पष्ट है, परन्तु उनके जन्म, दीक्षा, सूरिपद आदि के समय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, तथापि यह जान पड़ता है कि १२२५ में श्री जगच्चन्द्रसूरि ने तपागच्छ की स्थापना की, तब वे दीक्षित हुए होंगे; गच्छ स्थापना के बाद श्री जगच्चन्द्र-सूरि के द्वारा ही श्री देवेन्द्रसूरि और श्री विजयचन्द्रसूरि को सूरिपद दिये जाने का वर्णन गुर्वावली के श्लोक १०७ में है। यह तो मानना ही पड़ता है कि सूरिपद ग्रहण करने के समय श्री देवेन्द्रसूरि वय, विद्या और संयम से स्थविर होंगे; अन्यथा इतने गुरुतर पद का और खासकर के नवीन प्रतिष्ठित किये गये तपागच्छ के नायकत्व का भार वे कैसे सम्हाल सकते थे। उनका सूरिपद विक्रम संवत् १२८५ के बाद हुआ। सूरिपद के समय का अनुमान विक्रम संवत् १३०० मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि तपागच्छ की स्थापना के

समय वे नवदीक्षित होंगे। उनकी कुल उम्र पचास या बावन वर्ष की मान ली जाय तो यह सिद्ध है कि विक्रम सम्वत् १२७५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा। विक्रम सम्वत् १३०२ में उन्होंने उज्जयिनी में श्रेष्ठिवर जिनचन्द्र के पुत्र वीरधवल को दीक्षा दी, जो आगे विद्यानन्दसूरि के नाम से विख्यात हुए। उस समय देवेन्द्रसूरि की उम्र पच्चीस-सत्ताईस वर्ष की मान ली जाए, तब भी उक्त अनुमान--१२७५ वि० सं० के लगभग जन्म होने की पुष्टि होती है। अस्तु, जन्म, दीक्षा तथा सूरिपद का समय निश्चित न होने पर भी इस बात में सन्देह नहीं कि वे विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने अस्तित्व से भारतवर्ष की और खासकर गुजरात तथा मालवा की शोभा बढ़ा रहे थे।

जन्मभूमि, जाति आदि—श्री देवेन्द्रसूरि का जन्म किस देश, किस जाति और किस परिवार में हुआ, इसका प्रमाण नहीं मिला। गुर्वावली में उनका जीवन वृत्तान्त है, परन्तु वह बहुत संक्षिप्त है। उसमें सूरिपद ग्रहण करने के बाद की बातों का उल्लेख है, अन्य बातों का नहीं। इसलिए उसके आधार पर उनके जीवन के सम्बन्ध में जहाँ-कहीं उल्लेख हुआ है, वह अधूरा ही है, तथापि गुजरात और मालवा में उनका विहार इस अनुमान की सूचना कर सकता है कि वे गुजरात या मालवा में जन्मे होंगे। उनकी जाति व माता-पिता के सम्बन्ध में साधन के अभाव में किसी प्रकार के अनुमान को अवकाश नहीं है।

विद्वत्ता और चारित्रतत्परता—इसमें कोई संदेह नहीं कि श्री देवेन्द्रसूरि जैनशास्त्र के गम्भीर विद्वान थे। इसकी साक्षी उनके ग्रंथ ही दे रहे हैं। गुर्वावली के वर्णन से पता चलता है कि वे षड्दर्शन के मार्मिक विद्वान थे और इसी से मंत्रीश्वर वस्तुपाल तथा अन्य-विद्वान् उनके व्याख्यान में आया करते थे। विद्वत्ता और ग्रंथ-लेखन—ये दो अलग-अलग कार्य हैं और यह आवश्यक नहीं कि ग्रंथ लिखना ही चाहिए। परन्तु देवेन्द्रसूरि का जैनागम विषयक ज्ञान तलस्पर्शी था, यह बात असंदिग्ध है। उन्होंने कर्मग्रन्थ, जो नवीन कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं, सटीक रचे हैं। टीका इतनी विशद और सप्रमाण है कि उसे देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थ या उसकी टीकाएं देखने की जिज्ञासा एक तरह से शान्त हो जाती है। संस्कृत और प्राकृत भाषा में रचे हुए उनके अनेक ग्रंथ इस

बात की स्पष्ट सूचना करते हैं कि वे संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के प्रखर पण्डित थे।

श्री देवेन्द्रसूरि विद्वान होने के साथ-साथ चारित्र धर्म में बड़े दृढ़ थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस समय क्रियाशिथिलता को देखकर श्री जगच्चन्द्रसूरि ने बड़े पुरुषार्थ और निस्सीम त्याग से जो क्रियोद्धार किया था, उसका निर्वाह श्री देवेन्द्रसूरि ने किया।

गुरु—श्री देवेन्द्रसूरि के गुरु श्री जगच्चन्द्रसूरि थे, जिन्होंने श्री देवभद्र उपाध्याय की मदद से क्रियोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया था। इस कार्य में उन्होंने अपनी असाधारण त्याग-वृत्ति दिखाकर औरों के लिए आदर्श उपस्थित किया था।

परिवार—श्री देवेन्द्रसूरि के शिष्य परिवार के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। परन्तु इतना लिखा मिलता है कि अनेक संविग्न मुनि उनके आश्रित थे। गुर्वावली में उनके दो शिष्य श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति का उल्लेख मिलता है। ये दोनों भाई थे। विद्यानन्द नाम सूरिपद के पीछे का है, उन्होंने विद्यानन्द नाम का व्याकरण बनाया है। धर्मकीर्ति उपाध्याय ने भी जो सूरिपद लेने के बाद धर्मघोष नाम से प्रसिद्ध हुए, कुछ ग्रंथ रचे हैं। ये दोनों शिष्य जैनशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के भी अच्छे विद्वान थे। इसका प्रमाण उनके गुरु श्री देवेन्द्रसूरि की कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अंतिम पद्य से मिलता है। उन्होंने लिखा है कि मेरी बनाई हुई इस टीका का श्री विद्यानन्द और श्री धर्मकीर्ति—दोनों विद्वानों ने शोधन किया है। श्री देवेन्द्र सूरि के कुछ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१) श्राद्धदिनकृत्य सूत्रवृत्ति, (२) सटीक पाँच नवीन कर्मग्रंथ, (३) सिद्ध पंचाशिका सूत्रवृत्ति, (४) धर्मरत्न वृत्ति, (५) सुदर्शन चरित्र, (६) चैत्यवंदनादि भाष्यत्रय, (७) वंदारुवृत्ति, (८) सिरिउसहवद्धमाण प्रमुख स्तवन, (९) सिद्धदण्डिका और (१०) सारवृत्तिदशा।

इनमें से प्रायः बहुत से ग्रन्थ जैनधर्म-प्रसारक सभा भावनगर, आत्मानन्द सभा भावनगर और देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

—श्रीचन्द सुराना
—देवकुमार जैन

१

कर्मग्रन्थ

[प्रथम भाग]

मं
ग्र
जि
कर
नष्ट

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मविपाक

[प्रथम कर्मग्रन्थ]

ग्रन्थ प्रारम्भ करने से पूर्व ग्रंथ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ के नाम और ग्रन्थ में वर्णित विषय का संकेत करते हैं—

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥१॥

गाथार्थ—श्री वीर जिनेन्द्र की वन्दना—नमस्कार करके संक्षेप में 'कर्मविपाक' नामक ग्रन्थ को कहूँगा। मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् जीव द्वारा मिथ्यात्व, कषाय आदि हेतुओं से जो कर्मयोग्य पुद्गल द्रव्य अपने प्रदेशों के साथ मिला लिया जाता है, वह आत्मसम्बन्ध पुद्गलद्रव्य कर्म कहलाता है।

विशेषार्थ—कार्य के निर्विघ्न पूर्ण होने के लिए कार्य के प्रारम्भ में मंगलकारी महापुरुषों का स्मरण किया जाता है। अतः ग्रन्थकार ने ग्रन्थ प्रारम्भ करने से पूर्व 'सिरि वीर जिणं' पद द्वारा श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है। श्री वीर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करने का कारण यह है कि उन्होंने ग्रन्थ में वर्णित कर्मों को पूर्ण रूप से नष्ट कर शुद्ध, बुद्ध आत्मा-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है।

'सिरि वीर जिणं'—यह पद श्री वीर जिनेन्द्रदेव के नाम का वोध कराने के साथ-साथ उनकी विशेषताओं का भी वोध कराने वाला है; जैसे कि—

श्री शब्द का अर्थ है, लक्ष्मी। उसके दो भेद हैं—आन्तर् और वाह्य। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को अन्तरंग लक्ष्मी कहते हैं और (१) अशोकवृक्ष, (२) सुरपुष्पवृष्टि, (३) दिव्यध्वनि, (४) चामर, (५) आसन, (६) भामंडल, (७) दुन्दुभि, (८) आतपत्र[1] इन आठ महाप्रातिहार्यों को वाह्य लक्ष्मी कहते हैं।

जब तीर्थङ्कर भगवान् केवलज्ञान प्राप्त कर भव्य मुमुक्षु जीवों के प्रतिबोधनार्थ धर्मदेशना देते हैं तब देव, देवेन्द्र अपना भक्ति-प्रमोद प्रकट करने के लिए उक्त अष्ट प्रातिहार्यों रूप वाह्य लक्ष्मी से युक्त समवसरण की रचना करते हैं।

वीर—वी—विशिष्टां, ईं—लक्ष्मीं, र—राति-ददाति, आत्मीयत्वेन गृह्णातीति वा वीरः। अथवा वी—विशेषेण अनन्तज्ञानादि आत्मगुणान् इर—ईरयति—प्रापयति वा वीरः।" यह वीर शब्द की व्युत्पत्ति-मूलक व्याख्या है। जिसका अर्थ है कि अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के असाधारण-विशेष गुणों को जो प्राप्त करने वाले हैं और दूसरों को भी इन आत्मिक गुणों को प्राप्त कराने में समर्थ सहयोगी वन सकते हैं, वे वीर कहलाते हैं।

जिन—जयतीति जिनः। जिन्होंने स्वरूपोपलव्धि में वाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भावकर्मों को एवं ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों को जीत लिया है, उन्हें जिन कहते हैं।

---

१. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

भगवान् श्री वीर जिनेन्द्रदेव उक्त सभी गुणों से युक्त हैं। इसीलिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार मंगलाचरणात्मक पद के शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य प्रदर्शित करके अब ग्रन्थ में वर्णन किये जाने वाले विषय के बारे में कहते हैं।

कर्म की परिभाषा

मिथ्यात्व, विरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[1]

कर्म पौद्गलिक हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हों, उसे पुद्गल कहते हैं।[2] पृथ्वी, पानी, हवा, आदि पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, अर्थात् कर्म-रूप में परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज, अर्थात् धूलि हैं, जिसको इन्द्रियाँ (यंत्र आदि की मदद से भी) नहीं जान सकती हैं, किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम अवधि-ज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उन्हें कर्म कहते हैं।

---

१. विसय कसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति॥

—परमात्मप्रकाश १।६२

२. (क) स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सूत्र २३

(ख) पोग्गले पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे पण्णत्ते।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १२, उ० ५, सू० ४५०

जैसे कोई व्यक्ति शरीर में तेल लगाकर धूलि में लोटे तो वह धूलि उसके सर्वाङ्ग शरीर में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जब संसारावस्थापन्न जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन—हलन-चलन—होता है, उस समय अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्‌गल परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होने लगता है।[1] जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला प्रतिसमय अपने सर्वाङ्ग से जल को खींचता है, उसी प्रकार संसारी—छद्‌मस्थ—जीव अपने मन, वचन, काया की चंचलता से मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों द्वारा प्रतिक्षण कर्मपुद्‌गलों को ग्रहण करता रहता है। और दूध-पानी व अग्नि तथा लोहे के गोले का जैसा सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का जीव और उन कर्मपुद्‌गलों का सम्बन्ध हो जाता है।

जीव में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं। कर्म जीव के इन अनन्त गुणों को आवृत करने के साथ-साथ जन्म-मरण कराने तथा उच्च-नीच आदि कहलाने में कारण बनते हैं और उन-उन अवस्थाओं में जीव का अस्तित्व टिकाये रखते हैं।

जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाण-रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालिक है। संसारी जीव का वैभाविक स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और बद्धकर्म का स्वभाव जीव को रागादिरूप से परिणमाने का है। इस

---

१. स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबंधो भवत्येनम्॥

—आवश्यक टीका

प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव जीव और कर्म का सम्वन्ध अनादिकाल से समझना चाहिए।[1] यदि कर्म और जीव का सादि-सम्वन्ध माना जाए तो ऐसा मानने पर यह दोष आता है कि 'मुक्त जीवों को भी कर्मवन्ध होना चाहिए।'

कर्म-संतति (प्रवाह) की अपेक्षा जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। किन्तु अनादिकालीन होने पर सान्त (अन्तसहित) भी है और अनन्त (अन्तरहित) भी है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेंगे, उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सम्वन्ध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा, उनका कर्म के साथ अनादि अनन्त सम्वन्ध है।

कर्मसम्वद्ध जीवों में से जिन जीवों में मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता है, उन्हें भव्य और जिनमें यह योग्यता नहीं है, उन्हें अभव्य कहते हैं।

यद्यपि सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें से ज्ञाना-वरण आदि रूप पौद्गलिक परमाणुओं के पिंड को **द्रव्यकर्म** और उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को **भावकर्म** कहते हैं।[2]

कषाय के सम्वन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, किन्तु इसको विशेष रूप से समझाने के लिए—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग, ये पाँचों

---

१. (क) द्वयोरप्यनादिसम्वन्धः कनकोपल-सन्निभः।
(ख) अस्त्यात्माऽनादितो वद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।

—लोकप्रकाश, ४२४

२. पोग्गल-पिंडो दव्वं तस्सत्ति भावकम्मं तु।

—गोम्मटसार-कर्मकाण्ड-गाथा

बंधहेतुओं के रूप में प्रसिद्ध हैं।[1] उनकी संक्षिप्त व्याख्या नीचे लिखे अनुसार समझनी चाहिए।

मिथ्यात्व—इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के उल्टे अर्थवाला होता है, अर्थात् यथार्थ रूप से पदार्थों के श्रद्धान, निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है[2] एवं पदार्थों के अ-यथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

यह अ-यथार्थ श्रद्धान दो प्रकार से होता है—(१) वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और (२) वस्तु का अ-यथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे प्रकार में फर्क इतना है कि पहला बिलकुल मूढ़दशा में भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा में ही होता है। विचार-शक्ति का विकास होने पर भी जब दुराग्रह के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर अ-तत्व में पक्ष-पात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है। लेकिन जब विचार-दशा जाग्रत नहीं हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण से सिर्फ मूढ़ता होती है। उस समय तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता और वैसे ही अतत्त्व

---

१. (क) पंच आसवदारा पण्णत्ता तं जहा—मिच्छत्तं अविरई पमाए कसाया जोगा।

—स्थानांग ५।२।४१८

(ख) *मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।*

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सूत्र १

२. (क) तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहन्तस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥

—उत्तरा०, अ० २८, गा० १५

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २

का भी श्रद्धान नहीं होता है। उस दशा में सिर्फ मूढ़ता होने से तत्त्व का अश्रद्धान होना कहते हैं। यह नैसर्गिक—परोपदेशनिरपेक्ष-स्वभाव से होने के कारण अनभिगृहीत कहलाता है और जो किसी भी कारण के वश होकर ऐकान्तिक कदाग्रह होता है, उसे अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अभिगृहीत मिथ्यादर्शन मनुष्य जैसे विकसित प्राणी में होना संभव है और दूसरा अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन तो कीट-पतंग आदि जैसे अविकसित चेतना वाले प्राणियों में ही संभव है।

अविरति—दोषों—पापों से विरत न होना।

प्रमाद—आत्मविस्मरण होना, अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

कषाय—जो आत्मगुणों को कषे—नष्ट करे अथवा जो जन्म-मरण रूपी संसार को बढ़ावे।

योग—मन-वचन-काया के व्यापार-प्रवृत्ति अर्थात् चलन-हलन को योग कहते हैं।[1]

यद्यपि ज्ञानावरणादिक कर्मों के विशेष बंधहेतु भी बतलाये गये हैं। जिनका इसी ग्रन्थ में अन्यत्र उल्लेख भी किया गया है लेकिन मिथ्यात्वादि योगपर्यन्त ये पाँचों समस्त कर्मों के सामान्यकारण कहलाते हैं। मिथ्यात्व से लेकर योग तक के इन पाँचों बंधहेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बंधहेतु होंगे, वहाँ उसके बाद के सभी हेतु होंगे

---

१. कायवाङ्मनःकर्म योगः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६ सूत्र

ऐसा नियम है। जैसे मिथ्यात्व के होने पर अविरति से लेकर योग-पर्यन्त चारों हेतु होंगे ही और अविरति के होने पर प्रमाद आदि तीनों होंगे। इसी प्रकार क्रमशः प्रमाद, कषाय, योग के बारे में भी समझ लेना चाहिए। परन्तु जब आगे का बंधहेतु होगा, तब पूर्व का बंधहेतु हो भी और न भी हो, क्योंकि पहले गुणस्थान में अविरति के साथ मिथ्यात्व होता है, किन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता है। इसी प्रकार अन्य बंधहेतुओं के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कर्मबंध के उक्त हेतुओं की संख्या के बारे में तीन परम्पराएँ देखने को मिलती हैं—(१) कषाय और योग, (२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, (३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। किन्तु इस प्रकार से संख्या और उसके नामों में भेद रहने पर भी तात्त्विकदृष्टि से इन परम्पराओं में कोई भेद नहीं है। प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही है। अतः उसका समावेश अविरति या कषाय में हो जाता है। इस दृष्टि से कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों में सिर्फ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार बंधहेतु कहे गये हैं। यदि इनके लिए और भी सूक्ष्मता से विचार करें तो मिथ्यात्व और अविरति—ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते हैं, अतः कषाय और योग इन दोनों को मुख्य रूप से बंध का कारण माना जाता है। फिर भी जिज्ञासु जनों को विस्तार से समझाने के लिए मिथ्यात्वादि पाँचों को बंध का कारण कहा है। जो साधारण विवेकवान हैं, वे चार कारणों अथवा पाँच कारणों द्वारा और जो विशेष मर्मज्ञ हैं, वे दो कारणों की परम्परा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार कर्म और कर्मबंध के हेतुओं का कथन करके आगे की गाथा में कर्मबंध के प्रकार और कर्म के मूल एवं उत्तर भेदों की संख्या बतलाते हैं।

पगइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसय भेयं ॥२॥

गाथार्थ—लड्डू के दृष्टान्त से वह कर्मबंध प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मूल प्रकृतियां आठ और उत्तर प्रकृतियां एकसौ अट्ठावन हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में कर्म का लक्षण और कर्मबंध के कारणों का कथन करने के अनन्तर इस गाथा में कर्मबंध के भेद और कर्म की मूल-प्रकृतियों तथा उनकी उत्तर-प्रकृतियों की संख्या गिनाते हैं।

जीव द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण किये जाने पर वे कर्मरूप को प्राप्त होते हैं, उस समय उनमें चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश बंध के प्रकार कहलाते हैं; उदाहरणार्थ—जैसे गाय-भैंस आदि द्वारा खाई हुई घास आदि दूध-रूप में परिणत होती है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है। वह स्वभाव अमुक समय तक इसी रूप में बना रहे, ऐसी कालमर्यादा भी उसमें आती है। इस मधुरता में तीव्रता-मंदता आदि विशेषताएँ भी होती हैं तथा उस दूध का कुछ परिमाण भी होता है। इसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किये गये और आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है, जिनको क्रमशः प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध कहते हैं।[1] उनके लक्षण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

---

१. (क) चउव्विहे बन्धे पण्णत्ते, तं जहा—पगइबंधे, ठिइबंधे, अणुभाव बन्धे, पएसबन्धे। —समवायांग. समवाय ४

(ख) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः। —त० सू०, अ० ८ सूत्र ४

(१) **प्रकृति-बंध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों—स्वभावों का पैदा होना प्रकृति-बंध कहलाता है।

(२) **स्थिति-बंध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में अमुक समय तक अपने-अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की कालमर्यादा का होना स्थिति-बंध है।

(३) **रस-बंध**—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मपुद्गलों में फल देने के तरतमभाव का होना रस-बंध कहलाता है।

रस-बंध को अनुभागबन्ध अथवा अनुभावबन्ध भी कहते हैं।

(४) **प्रदेश-बन्ध**—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश-बन्ध कहलाता है।[1]

अब गाथा में दिये हुए लड्डुओं के दृष्टान्त द्वारा प्रकृतिवन्ध आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

जैसे वातनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव वायु को नाश करने का, पित्तनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव पित्त को शान्त करने का और कफनाशक पदार्थों से बने हुए लड्डुओं का स्वभाव कफ नष्ट करने का होता है, वैसे ही आत्मा के द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों में से कुछ में आत्मा के ज्ञानगुण को घात करने की, कुछ में आत्मा के दर्शनगुण को ढाँकने की, कुछ में आत्मा के अनन्त सामर्थ्य को दबा देने आदि की शक्तियाँ पैदा होती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मपुद्गलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के, अर्थात् शक्तियों के वन्ध को, स्वभावों के उत्पन्न होने को प्रकृतिवन्ध कहते हैं।

---

१. स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसञ्चयः॥
—अर्थात् स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, काल की मर्यादा को स्थिति, अनुभाग को रस और दलों की संख्या को प्रदेश कहते हैं।

उक्त लड्डुओं में से कुछ की एक सप्ताह, कुछ की पन्द्रह दिन, कुछ की एक माह तक अपनी शक्ति, स्वभाव रूप में रहने की कालमर्यादा होती है। इस कालमर्यादा को स्थिति कहते हैं। स्थिति के पूर्ण होने पर लड्डू अपने स्वभाव को छोड़ देते हैं अर्थात् विगड़ जाते हैं, विरस हो जाते हैं। इसी तरह कोई कर्मदल आत्मा के साथ सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक, कोई वीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक, कोई अन्त-मुहूर्त तक रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मदलों में पृथक्-पृथक् स्थितियों का यानी अपने स्वभाव का त्याग न कर आत्मा के साथ बने रहने की काल-मर्यादाओं का वन्ध होना स्थिति-वन्ध कहलाता है। स्थिति के पूर्ण होने पर वे कर्म अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं, अर्थात् आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

जैसे कुछ लड्डुओं में मधुर रस अधिक, कुछ में कम, कुछ में कटुक रस अधिक. कुछ में कम आदि, इस प्रकार मधुर, कटुक रस आदि रसों में न्यूनाधिकता देखी जाती है। इसी प्रकार कुछ कर्मदलों में शुभ या अशुभ रस अधिक, कुछ कर्मदलों में कम, इस तरह विविध प्रकार के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मंद, मंदतर, मंदतम शुभ-अशुभ रसों का कर्म-पुद्गलों में वंधना यानी उत्पन्न होना रसवन्ध है।

शुभ कर्मों का रस ईख आदि के सदृश मधुर होता है, जिसके अनुभव से जीव हर्षित होता है। अशुभ कर्मों का रस नीम आदि के रस के सदृश कड़ुवा होता है, जिसके अनुभव से जीव घवराता है, दुःखी होता है।

कुछ लड्डुओं का परिमाण दो तोला, कुछ का छटांक और कुछ का पाव आदि होता है। इसी प्रकार किन्हीं कर्मस्कन्धों में परमाणुओं की संख्या अधिक और किन्हीं में कम होती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न

परमाणु संख्याओंयुक्त कर्मदलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

जीव संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं से बने कर्मस्कन्धों को ग्रहण नहीं करता, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओं से बने हुए कर्म-स्कन्धों को ग्रहण करता है।

उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का बन्ध योग से एवं स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का बन्ध कषाय से होता है।[1]

कर्म के भेदों का कथन करने के अनन्तर कर्मों की मूल एवं उत्तर-प्रकृतियों की परिभाषा और संख्या बताते हैं।

मूलप्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों को कहते हैं।

उत्तरप्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों के अवान्तर भेदों को उत्तरप्रकृति कहते हैं।

कर्म की मूलप्रकृतियों के आठ और उत्तरप्रकृतियों के एकसौ अट्ठावन भेद होते हैं। उनके नाम और संख्या आदि का निरूपण आगे की गाथा में किया जायगा।

आगे की गाथा में मूलप्रकृतियों के भेदों के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

---

१. जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ ।
—पंचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

गाथार्थ—कर्मशास्त्र में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये कर्म की मूलप्रकृतियों के आठ नाम हैं और इनके क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, एकसौ तीन, दो और पाँच भेद हैं।

विशेषार्थ—जीव द्वारा ग्रहण की गई कर्मपुद्गलराशि में अध्यवसायशक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावों का निर्माण होता है। यद्यपि ये स्वभाव अदृश्य हैं; फिर भी उनके परिणमन की अनुभूति, ज्ञान उनके कार्यों के प्रभाव को देखकर करते हैं। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं और इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी असंख्यात हैं। ऐसा होने पर भी संक्षेप में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागों में विभाजित कर दिया है, जिनके नाम क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1] इन नामों

---

१. (क) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य॥
नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं अट्ठेव उ समासओ॥

—उत्तराध्ययन ३३।२-३

(ख) अट्ठ कम्म पगडीओ पण्णत्ताओ तं जहा—णाणावरणिज्जं, दंसणावरणिज्जं, वेयणिज्जं, मोहणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं अन्तराइयं।

—प्रज्ञापना, पद २१, उ० १, सू० २२८

(ग) आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८, सू० ५

के साथ प्रत्येक के अन्त में कर्म शब्द जोड़ देने से उस कर्म का पूरा नाम हो जाता है; जैसे—ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म इत्यादि।

असंख्य कर्मप्रभावों को उक्त आठ भागों में वर्गीकृत करने का कारण यह है कि जिससे जिज्ञासुजन सरलता से कर्मसिद्धान्त को समझ सकें। ज्ञानावरणकर्म आदि आठ कर्मों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करे, उसे **ज्ञानावरणकर्म** कहते हैं।

(२) जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, उसे **दर्शनावरणकर्म** कहते हैं।

(३) जिस कर्म के द्वारा जीव को सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव हो, वह **वेदनीयकर्म** कहलाता है।

(४) जो कर्म जीव को स्वपर-विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुँचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात करता है, उसे **मोहनीयकर्म** कहते हैं।

(५) जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है तथा क्षय होने से मरता है, उसे **आयुकर्म** कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि कहलाये, उसे **नामकर्म** कहते हैं।

(७) जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल में जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव में पूज्यता, अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च, नीच कहलाये[1] उसे **गोत्रकर्म** कहते हैं।

---

१. यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मणः उदयात् गोत्रं। —प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका

(८) जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तियों का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

इन आठों कर्मों के भी घाति और अघाति रूप में दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय—यह चार घाति कर्म हैं। 'घाति' यह सार्थक संज्ञा है। आत्मा के अनुजीवी गुणों का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने के कारण ही ये कर्म 'घाति' कहलाते हैं। शेष अर्थात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार कर्म 'अघाति' कहलाते हैं। यद्यपि इनमें आत्मा के अनुजीवी गुणों—वास्तविक आत्म-स्वरूप का घात करने की शक्ति नहीं है, तथापि इनमें ऐसी शक्ति पाई जाती है, जो आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करती है, जिससे आत्मा को शरीर की कैद में रहना पड़ता है।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में से क्रमशः ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के एकसौ तीन, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद होते हैं। ये अवान्तर भेद उन-उन कर्मों की उत्तर-प्रकृतियाँ कहलाते हैं। किन्हीं किन्हीं ग्रंथों में उक्त कर्मों के कुल मिलाकर सत्तानवै या एकसौ अड़तालीस भेद भी बतलाये हैं। इस तरह की भिन्नता के कारणों को यथाप्रसंग बतलाया जाएगा। यहाँ तो जिज्ञासुजनों को सरलता से समझाने के लिए ही ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या एकसौ अट्ठावन बताई गई है।

अब आगे की गाथा में ज्ञानावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों के नाम बतलाने के लिए पहले ज्ञान के पाँच भेदों का वर्णन करते हैं।

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिंदिय चउक्का ॥४॥

गाथार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं। उनमें से मतिज्ञान का अवान्तरभेद व्यंजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों से होने के कारण चार प्रकार का है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में पहला कर्म ज्ञानावरण है। उसकी उत्तर-प्रकृतियों के नाम समझाने के लिए पहले ज्ञान के भेद वतलाते हैं; क्योंकि ज्ञानों के नाम जान लेने से उनके आवरणों के नाम भी सरलता से समझ में आ जायेंगे। ज्ञान के मुख्य पाँच भेद हैं—(१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान।[1]

मतिज्ञान—मन और इन्द्रियों की सहायता द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को अभिनिवोधिक ज्ञान भी कहते हैं।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जो अर्थ का ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। अथवा मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं; जैसे—

---

१. (क) पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा—अभिणिवोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

—स्थानांगसूत्र, स्थान ५, उ० ३, सू० ४६३

(ख) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० ६

घट शब्द को सुनने अथवा आँख से देखने पर उसके बनाने वाले, रंग-रूप आदि तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है। शास्त्रों के बाँचने तथा सुनने से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह भी श्रुतज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर

यद्यपि मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में मन और इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित है, फिर भी इन दोनों में इतना अन्तर है कि मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, वर्तमान और भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। विषयकृत भेद के सिवाय दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्द-उल्लेख नहीं होता है और श्रुतज्ञान में होता है। इसका आशय यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख से रहित है, वह मतिज्ञान है।

मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, फिर भी श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता है। इन्द्रियाँ तो मात्र मूर्त को ही ग्रहण करती हैं, किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनों को ग्रहण करता है। वास्तव में देखा जाय तो मनन-चिन्तन मन ही करता है; यथा—मननान्मनः। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय का मनन भी मन ही करता है और कभी वह स्वतन्त्र रूप से भी मनन करता है। कहा भी है—श्रुतमनिन्द्रियस्य (तत्त्वार्थसूत्र अ० २, सू० २२), अर्थात् श्रुतज्ञान मुख्यतया मन का विषय है।

अवधिज्ञान—मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी, अर्थात् मूर्तद्रव्य का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अथवा 'अव' शब्द अधः (नीचे) अर्थ का वाचक है। जो अधोऽधो विस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है अथवा अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है, अरूपी को नहीं। यही उसकी मर्यादा है। अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने का जो आत्मा का व्यापार होता है उसे **अवधिज्ञान** कहते हैं।[1]

मनःपर्यायज्ञान—इन्द्रियों और मन की अपेक्षा न रखते हुए मर्यादा लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्यायज्ञान कहलाता है। संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं। जब मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है, तब चिन्तनीय वस्तु के भेदानुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भी तरह-तरह की आकृतियाँ धारण करता है। वे ही आकृतियाँ मन की पर्याय हैं। उन्हें मनःपर्यायज्ञान प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है।

मनःपर्यायज्ञानी किसी बाह्य वस्तु को, क्षेत्र को, काल को तथा द्रव्यगत पर्यायों को नहीं जानता, किन्तु जब वे किसी के चिन्तन में आ जाते हैं, तब मनोगत भावों को जानता है। जैसे बन्द कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति बाहर होने वाले विशेष समारोह तथा उसमें भाग लेने वाले

---

१. अव शब्दोऽधः शब्दार्थः अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधि अथवा अवधि मर्यादा रूपीष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि यद्वा अवधानम् आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधिश्चासौ ज्ञानं चावधिज्ञानम्।

—नन्दीसूत्र टीका

मनुष्योंव व स्तुओं को टेलीविजन के द्वारा प्रत्यक्ष करता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही मनःपर्यायज्ञानी चक्षु से परोक्ष जो भी जीव, अजीव हैं उनका प्रत्यक्ष तब कर सकते हैं, जबकि वे किसी संज्ञी के मन में झलक रहे हों, अन्यथा नहीं। सैकड़ों योजन दूर रहे हुए किसी ग्राम, नगर आदि को मनःपर्यायज्ञानी नहीं देख सकते। यदि वह ग्राम आदि किसी के मन में स्मृति के रूप में विद्यमान हैं, तब उनका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य-अन्य उदाहरण समझने चाहिए।

अवधिज्ञान का विषय भी रूपी है, और मनःपर्यायज्ञान का विषय भी रूपी है; क्योंकि मन पौद्गलिक होने से वह रूपी है, फिर अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को क्यों नहीं जान सकता ? तो इसका समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को तथा उसकी पर्यायों को भी प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जैसे कि सैनिक दूर रहे अपने साथियों को दिन में झण्डियों की विशेष प्रक्रिया द्वारा और रात्रि में प्रकाश की प्रक्रिया द्वारा अपने भावों को समझाते हैं और स्वयं समझते हैं। किन्तु अप्रशिक्षित व्यक्ति झण्डियाँ, प्रकाश आदि को देख सकता है और उनकी प्रक्रियाओं को भी देख सकता है किन्तु उनके द्वारा व्यक्त मनोभावों को नहीं समझ सकता है। इसी प्रकार अवधिज्ञानी मन तथा मन की पर्यायों को प्रत्यक्ष तो कर सकता है, किन्तु मनोगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है, जबकि मनःपर्यायज्ञानी कर सकता है। यह उसका विशेष विषय है। यदि यह उसका विशेष विषय न होता तो मनःपर्यायज्ञान को अलग से मानना ही व्यर्थ है।

केवलज्ञान—विश्व में विद्यमान सम्पूर्ण द्रव्यों को, उनकी त्रिकाल—भूत, वर्तमान और भविष्य में होने वाली समस्त पर्यायों सहित युगपत्

(एक साथ) जानना केवलज्ञान कहलाता है; अर्थात् जो ज्ञान किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को विषय करता है, यानी इसके लिए मन और इन्द्रिय तथा देह एवं वैज्ञानिक यंत्रों की आवश्यकता नहीं रहती। वह बिना किसी की सहायता के रूपी-अरूपी, मूर्त-अमूर्त सभी ज्ञेयों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है। अतः उसे केवलज्ञान कहते हैं।

ये मतिज्ञान आदि पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं और इनमें से आदि के दो ज्ञान— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—परोक्षप्रमाण कहलाते हैं। क्योंकि इन दोनों ज्ञानों के होने में इन्द्रियों और मन के सहयोग की अपेक्षा होती है और अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान–ये तीनों ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं। ये तीनों ज्ञान मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं।[1]

यद्यपि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान आत्मा की शक्ति के द्वारा मूर्त पदार्थों का ज्ञान करते हैं, किन्तु ये चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण उनकी समग्र पर्यायों भावों को जानने में असमर्थ हैं। इसलिए इन दोनों ज्ञानों को विकल-प्रत्यक्ष कहते हैं, जबकि केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जानता

---

१. (क) दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव।
पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—केवलनाणे णोकेवलणाणे चेव।
णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—ओहिणाणे चेव णपज्जवणाणे चेव।
परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा--अभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।
—स्थानांगसूत्र, स्थान २, उ० १, सू० ७१

(ख) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ १, सू० ११, १२

है। अतः केवलज्ञान को सकलप्रत्यक्ष कहते हैं। केवलज्ञान में अपूर्णताजन्य कोई भेद-प्रभेद नहीं होता है, क्योंकि कोई भी पदार्थ और तज्जन्य पर्याय ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान के द्वारा न जानी जाय।

इन पाँच ज्ञानों में से आदि के दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान निश्चयनय की अपेक्षा परोक्ष हैं, किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान भी कहे जाते हैं। इसलिए इन दोनों ज्ञानों को व्यावहारिक प्रत्यक्ष और शेष रहे अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।

मतिज्ञानादि पांच ज्ञानों में से आदि के चार ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान अपने आवरण कर्म को पूर्ण रूप से क्षय कर देने से क्षायिकज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के भेद

केवलज्ञान का अन्य कोई अवान्तर भेद नहीं होता है, किन्तु मतिज्ञानादि शेष रहे चारों ज्ञानों के क्षायोपशमिक होने से अवान्तर भेद होते हैं, जिनका यथाप्रसंग कथन किया जायगा। सर्वप्रथम यहाँ मतिज्ञान के अवान्तर भेदों की संख्या और नामों को बतलाते हैं।

संक्षेप में मतिज्ञान के चार भेद हैं और क्रमशः अट्ठाईस, तीनसौ छत्तीस अथवा तीनसौ चालीस भेद भी होते हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।[1]

---

१. (क) से किं तं सुअनिस्सिअं? चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—उग्गहे, [illegible] अवाओ, धारणा।
—नंदि

इनमें से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद—और दूसरे भेद-नहीं होते हैं, किन्तु अवग्रह के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) व्यंजनावग्रह और (२) अर्थावग्रह।[1]

व्यंजनावग्रह—नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है और विषय तथा इन्द्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है, वह अर्थावग्रह कहलाता है, किन्तु वह ज्ञान भी अव्यक्त रूप ही होता है और इस अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाले अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब 'यह कुछ है' ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं और उससे भी पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजनावग्रह पदार्थ की सत्ता को ग्रहण करने पर होता है, अर्थात् पहले सत्ता की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यंजनावग्रह होता है।

(ख) अवग्रहेहावायधारणा।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १५

(ग) चउव्विहा मई पण्णत्ता तं जहा—उग्गहमई ईहामई अवायमई धारणामई।

— स्थानांग ४।४।३६४

१. (क) उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य।

—नन्दीसूत्र २७

(ख) सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव।

—स्थानांग, स्थान २, उ. २, सू० ७१

यह व्यंजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होता है।[1] क्योंकि व्यंजनावग्रह में इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध होना जरूरी है, लेकिन मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनों पदार्थों से अलग—दूर रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी कहलाते हैं।

अप्राप्यकारी का अर्थ यह है कि पदार्थों के साथ बिना संयोग किये ही पदार्थ का ज्ञान करना। जबकि स्पर्शनादि चार इन्द्रियाँ पदार्थ से सम्बन्ध करके ज्ञान कराने वाली होने से प्राप्यकारी कही जाती हैं। प्राप्यकारी का अर्थ है पदार्थ के साथ संबन्ध, संयोग और स्पर्श होने पर ज्ञान होना। तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है और अप्राप्यकारी इन्द्रियों से नहीं होता है। जैसे आँख में डाला हुआ अंजन स्वयं आँख से नहीं दिखता और मन शरीर के अन्दर रहकर ही बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय—ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हैं।

इसी कारण व्यंजनावग्रह के (१) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह और (४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह—ये चार भेद होते हैं।[2]

१. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सु० १९

२. वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा—सोइन्दियवंजणुग्गहे, घाणिदियवंजणुग्गहे, जिब्भिदियवंजणुग्गहे, फासिदियवंजणुग्गहे से तं वंजणुग्गहे।

—नन्दीसूत्र २८

इनमें से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद—और दूसरे भेद-नहीं होते हैं, किन्तु अवग्रह के निम्नलिखित दो भेद हैं—

(१) व्यंजनावग्रह और (२) अर्थावग्रह।[१]

व्यंजनावग्रह—नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है और विषय तथा इन्द्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है, वह अर्थावग्रह कहलाता है, किन्तु वह ज्ञान भी अव्यक्त रूप ही होता है और इस अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाले अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब 'यह कुछ है' ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं और उससे भी पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यंजनावग्रह कहलाता है। व्यंजनावग्रह पदार्थ की सत्ता को ग्रहण करने पर होता है, अर्थात् पहले सत्ता की प्रतीति होती है और उसके वाद व्यंजनावग्रह होता है।

(ख) अवग्रहेहावायधारणा।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सू० १५

(ग) चउव्विहा मई पण्णत्ता तं जहा—उग्गहमई ईहामई अवायमई धारणामई।

—स्थानांग ४।४।३६४

१. (क) उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य।

—नन्दीसूत्र २७

(ख) सुयनिस्सिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थोग्गहे चेव वंजणोग्गहे चेव।

—स्थानांग, स्थान २, उ. २, सू० ७१

यह व्यंजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होता है।[1] क्योंकि व्यंजनावग्रह में इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध होना जरूरी है, लेकिन मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनों पदार्थों से अलग—दूर रहकर ही उनको ग्रहण करते हैं। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी कहलाते हैं।

अप्राप्यकारी का अर्थ यह है कि पदार्थों के साथ बिना संयोग किये ही पदार्थ का ज्ञान करना। जबकि स्पर्शनादि चार इन्द्रियाँ पदार्थ से सम्बन्ध करके ज्ञान कराने वाली होने से प्राप्यकारी कही जाती हैं। प्राप्यकारी का अर्थ है पदार्थ के साथ संबन्ध, संयोग और स्पर्श होने पर ज्ञान होना। तात्पर्य यह है कि जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है और अप्राप्यकारी इन्द्रियों से नहीं होता है। जैसे आँख में डाला हुआ अंजन स्वयं आँख से नहीं दिखता और मन शरीर के अन्दर रहकर ही बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है। इसीलिए मन और चक्षुरिन्द्रिय—ये दोनों प्राप्यकारी नहीं हैं।

इसी कारण व्यंजनावग्रह के (१) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह और (४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह—ये चार भेद होते हैं।[2]

---

१. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।

—तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सु० १९

२. वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा—सोइन्दियवंजणुग्गहे, घाणिंदियवंजणुग्गहे, जिब्भिदियवंजणुग्गहे, फासिंदियवंजणुग्गहे से तं वंजणुग्गहे।

—नन्दीसूत्र २८

स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा जो अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान होता है, उसे स्पर्शनेन्द्रिय-व्यंजनावग्रह कहते हैं। इसी प्रकार रसना, घ्राण और श्रोत्र—इन तीन इन्द्रियों से होने वाले व्यंजनावग्रहों को भी समझ लेना चाहिए।

व्यंजनावग्रह का जघन्य काल आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है और उत्कृष्ट श्वासोच्छ्वास-पृथक्त्व, अर्थात् दो श्वासोच्छ्वास से लेकर नौ श्वासोच्छ्वास जितना है।[1]

मतिज्ञान के अवग्रह आदि चार भेदों के नाम गिनाने के अनन्तर अट्ठाईस भेदों में से व्यंजनावग्रह के चार भेद बतलाने के बाद शेष रहे चौबीस भेदों आदि के नाम तथा श्रुतज्ञान के भेदों की संख्या आगे की गाथा में बतलाते हैं—

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

गाथार्थ—अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये प्रत्येक करण अर्थात् पाँच इन्द्रियों और मन से होते हैं, इसलिए प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चौबीस भेद हो जाते हैं और पहले बताये गये व्यंजनावग्रह के चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं। श्रुतज्ञान के चौदह अथवा बीस भेद होते हैं।

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों में स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियजन्य व्यंजनावग्रह के चार भेद पूर्व की गाथा में कहे गये

१. 'वंजणोवग्गह कालो आवलियाऽसंखभाग तुल्लो उ।
थोवा उक्कोसा पुण आणपाणू पुहुत्तं ति ॥' —नन्दी सूत्र टीका

हैं। बाकी रहे चौबीस भेदों को बतलाने से पहले गाथा में बताये गये अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के लक्षण कहते हैं।

अर्थावग्रह—पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं; जैसे—'यह कुछ है'। अर्थावग्रह में भी पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु व्यंजनावग्रह की अपेक्षा अर्थावग्रह ज्ञान में कुछ विशेषता होती है। अर्थावग्रह का काल एक समय प्रमाण है।

ईहा—अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में धर्म-विषयक विचारणा को ईहा कहते हैं, अर्थात् अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहा जाता है। जैसे यह रस्सी का स्पर्श है या सर्प का, इस प्रकार का संशय उत्पन्न होने पर दोनों के गुण-धर्मों के सम्बन्ध में विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए। क्योंकि यदि यह सर्प होता तो आघात होने पर फुफकार किये बिना न रहता इत्यादि संभावना, विचारणा ईहा कहलाती है। ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किये गए पदार्थ के विषय में कुछ अधिक जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं, जैसे—पहले जो स्पर्श हुआ था, वह रस्सी का ही स्पर्श था, सर्प का नहीं। इस प्रकार जो निश्चय होता है, वह अवाय है। अवाय का समय अन्तर्मुहूर्त है।

धारणा—अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो, ऐसा जो दृढ़ ज्ञान होता है, उसे धारणा कहते हैं, अर्थात् अवाय द्वारा जाने गए पदार्थ का कालान्तर में भी स्मरण हो, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहा जाता है।

अवाय रूप निश्चय कुछ काल तक विद्यमान रहता है, फिर विषयान्तर में मन के चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है, किन्तु ऐसा संस्कार डाल जाता है कि आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो जाता है। यह निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण, यह सब मति-व्यापार धारणा है। धारणा का काल संख्यात तथा असंख्यात वर्षों का है।[1]

मतिज्ञान के ही रूप होने से अर्थावग्रह आदि चारों पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करते हैं। इसलिए उनका पाँच इन्द्रियों और मन के साथ गुणा करने से छह-छह भेद हो जाते हैं, जैसे—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और मन इनका अर्थावग्रह के साथ संयोग करने से अर्थावग्रह के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं—

(१) स्पर्शनेन्द्रिय-अर्थावग्रह, (२) रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, (३) घ्राणेन्द्रिय--अर्थावग्रह, (४) चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह, (५) श्रोत्रेन्द्रिय-अर्थावग्रह और (६) मन-अर्थावग्रह। इसी प्रकार पाँच इन्द्रियों के नामों और मन के साथ क्रमशः ईहा, अवाय और धारणा को जोड़ने से उन-उनके भी छह-छह भेद कर लेना चाहिए।

अर्थावग्रह से लेकर धारणा तक इन चारों के छह-छह भेदों को मिलाने से कुल चौवीस भेद होते हैं[2] तथा इन भेदों में व्यंजनावग्रह

---

१. उग्गहे इक्कसमइए, अन्तोमुहुत्तिया ईहा, अन्तोमुहुत्तिए अवाए, धारणा संखेज्जं वा कालं असखेज्जं वा कालं। —नन्दीसूत्र ३४

२. नन्दीसूत्र २९, ३१, ३२, ३३।

के चार भेदों को और मिलाने से मतिज्ञान के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। ये भेद पृष्ठ २८ में दी गई तालिका से स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं।

इस प्रकार मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद वतलाने के अनन्तर ३३६ और ३४० भेदों को समझाते हैं।

ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान कभी एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान हो जाता है तो कभी विलम्ब से होता है, इत्यादि। अतः पाँच इन्द्रियों और मन-इन छह साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के रूप से जो कुल चौवीस भेद कहे हैं वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। उन बारह प्रकारों के नाम इस प्रकार हैं--

(१) वहु, (५) क्षिप्र, (९) असंदिग्ध
(२) अल्प, (६) अक्षिप्र, (चर), (१०) संदिग्ध,
(३) वहुविध, (७) अनिश्रित, (११) ध्रुव
(४) एकविध, (८) निश्रित, (१२) अध्रुव।[1]

---

१. (क) छव्विहा उग्गहमती पण्णत्ता, तं जहा-खिप्पमोगिण्हति वहुमोगिण्हति वहुविधमोगिण्हति धुवमोगिण्हति अणिस्सियमोगिण्हइ असंदिद्धमोगिण्हइ। छव्विहा ईहामती पण्णत्ता, तं जहा—खिप्पमीहति वहुमीहति जाव असंदिद्धमीहति। छव्विहा अवायमती पण्त्ता तं जहा—खिप्पमवेति जाव असंदिद्धं मवेति। छव्विधा धारणा पण्णत्ता तं जहा—वहुं धारेइ वहुविहंधारेइ, पोराणं धारेइ, दुद्धरं धारेइ अणि धारेइ असंदिद्ध धारेइ। **—स्थानांगसूत्र, स्थान ६,**

स्पर्शन इ०	रसन इ०	घ्राण इ०	श्रोत्र इ०	चक्षु इ०	मन	सर्वभेद २८
१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	१ व्यंजनावग्रह	×	×	४
२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	२ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	१ अर्थावग्रह	६
३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	३ ईहा	२ ईहा	२ ईहा	६
४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	४ अवाय	३ अवाय	३ अवाय	६
५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	५ धारणा	४ धारणा	४ धारणा	६

बहु का आशय अनेक और अल्प का आशय एक है। जैसे दो या दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा, आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक पुस्तक को जानने वाले अल्पग्राही अवग्रह आदि धारणा पर्यन्त समझ लेने चाहिए।

बहुविध का आशय अनेक प्रकार से और एकविध का अर्थ एक प्रकार से है। जैसे—आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि विविधता रखने वाली पुस्तकों के जानने वाले अवग्रह आदि क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों के जानने वाले ये ज्ञान अल्पविधग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

बहु और अल्प का तात्पर्य वस्तु की संख्या (गिनती) से और बहुविध तथा एकविध का तात्पर्य प्रकार, किस्म या जाति से है। यही दोनों में अन्तर है।

क्षिप्र का अर्थ शीघ्र और अक्षिप्र का अर्थ विलम्ब—देरी है। शीघ्र जानने वाले अवग्रह आदि क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि तथा विलम्ब से जानने वाले अक्षिप्रगाही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

अनिश्रित का अर्थ हेतु—चिह्न द्वारा असिद्ध और निश्रित का आशय हेतु द्वारा सिद्ध वस्तु से है। जैसे पूर्व में अनुभूत शीतल, कोमल

तथा—जं बहु वहुविहं खिप्पा अणिस्सिय निच्छिय धुवेयरविभिन्ना
पुणरोग्गहादओ तो तं छत्तीसत्तिसय भेदं।

—इति भासयारेण (इति भाष्यकारेण)

(ख) बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, ० १६

और स्निग्ध स्पर्श रूप हेतु से जूही के फूलों को जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान क्रमशः निश्रितग्राही अवग्रह आदि तथा उक्त हेतु के बिना ही उन फूलों को जानने वाले अनिश्रितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ऊपर जो निश्रित और अनिश्रित शब्द का अर्थ बतलाया है, वह नन्दीसूत्र की टीका में भी है। इसके सिवाय उक्त सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने एक दूसरा भी अर्थ बतलाया है—पर-धर्मों से मिश्रित-ग्रहण निश्रितावग्रह आदि और पर धर्मों से अनिश्रितग्रहण अनिश्रितावग्रह आदि (आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ १८३)।

असंदिग्ध का अर्थ निश्चित और संदिग्ध का अर्थ अनिश्चित है। जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं; इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान निश्चित (असंदिग्ध) ग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों में शीतलता होती है, इस प्रकार विशेष की अनुपलब्धि के साथ होने वाले संदेहयुक्त ज्ञान अनिश्चित (संदिग्ध) ग्राही-अवग्रह आदि कहलाते हैं।

जैसा कि पहले ज्ञान हुआ था, वैसा ही पीछे भी होता है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता, उसे ध्रुवग्रहण और पहले तथा पीछे होने वाले ज्ञान में न्यूनाधिक रूप से अन्तर आ जाना अध्रुवाग्रहण कहलाता है; जैसे कोई मनुष्य साधन-सामग्री आदि समान होने पर उस विषय को अवश्य जान लेता है और दूसरा उसे कभी जान पड़ता है और कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले अवग्रह आदि चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और सामग्री होने पर

भी क्षयोपशम की मंदता के कारण कभी ग्रहण करने वाले और कभी न करने वाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

उक्त वहु आदि वारह भेदों में से वहु, अल्प, वहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर एवं क्षिप्र आदि शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर आधारित है।

बहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव इनमें विशिष्ट क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता, अभ्यस्तता ये असाधारण कारण हैं और अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव—इनसे होने वाले ज्ञान में क्षयोपशम की मंदता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्ता ये अन्तरंग असाधारण कारण हैं।

पाँच इन्द्रियों और मन—इनके माध्यम से मतिज्ञान उत्पन्न होता है। इन छहों को अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के साथ जोड़ने से चौबीस भेद बन जाते हैं, जिनका संकेत पूर्व में किया है। चक्षु और मन को छोड़कर चार इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह भी होता है। अतः अर्थावग्रह आदि चौबीस भेदों में व्यंजनावग्रह के चार भेदों की संख्या जोड़ने से अट्ठाईस हो जाते हैं। इन अट्ठाईस को वहु आदि वारह भेदों से गुणा करने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद हो जाते हैं।

प्रकारान्तर से ३३६ भेद इस तरह से भी समझे जा सकते हैं—अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों में से प्रत्येक के पाँच इन्द्रियों और मन से होने के कारण चौबीस भेद वनते हैं और इन चौवीस का वहु आदि वारह के साथ गुणा करने से २८८ भेद हुए तथा व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इन दोनों के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होने से और इन चार प्रकार के व्यंजनावग्रह का वहु आदि वारह के साथ गुणा करने से अड़तालीस भेद हुए।

इस प्रकार अर्थावग्रह आदि के २८८ और व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेदों को मिलाने से कुल ३३६ भेद मतिज्ञान के हो जाते हैं।

व्यंजनावग्रह के अड़तालीस भेद होने का कारण यह है—

व्यंजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन के सिवाय शेष चार इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र से होता है। तथा ईहा, अवाय एवं धारणा रूप क्रमवर्ती ज्ञान नहीं होते हैं। इसलिए स्पर्शनादि चार इन्द्रियों से जन्य व्यंजनावग्रहों का बहु आदि बारह के साथ गुणा करने पर सिर्फ अड़तालीस भेद होते हैं। मतिज्ञान के पूर्वोक्त ३३६ भेदों में अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के-(१) औत्पात्तिकी बुद्धि, (२) वैनयिकी बुद्धि, (३) कर्मजा बुद्धि और (४) परिणामिकी बुद्धि[1]—इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद हो जाते हैं।

उक्त चार बुद्धियों का स्वरूप निम्न प्रकार से समझना चाहिए—

औत्पत्तिकी बुद्धि[2]—जिस बुद्धि के द्वारा पहले विना सुने, विना जाने हुए पदार्थों के विशुद्ध अर्थ, अभिप्राय को तत्काल ग्रहण कर लिया जाता है, उसे औत्पात्तिकी बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि किसी प्रसंग पर कार्यसिद्धि करने में एकाएक प्रकट होती है।

---

१. (क) असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं तं जहा—
उप्पत्तिया वेणइआ कम्मिया परिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता पंचमा नोवलब्भई॥
—नन्दीसूत्र २६

(ख) चउव्विहा बुद्धी पण्णत्ता तं जहा—उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मिया, परिणामिया।
—स्थानांग ४।४। ३६४

२. पुव्वमदिट्ठ मस्सुय मवेइ य तक्खणविशुद्धगहियत्था।
अव्वाहय फल जोगा बुद्धी उप्पत्तिया नाम।
—नन्दीसूत्र, गाथा ६९

वैनयिकी बुद्धि[1]—गुरुजनों आदि की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते हैं। यह बुद्धि कार्यभार वहन करने में समर्थ होती है और इहलोक व परलोक में फल देने वाली होती है।

कर्मजा बुद्धि[2]—उपयोग पूर्वक चिन्तन, मनन और अभ्यास करते-करते प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते हैं।

परिणामकी बुद्धि[3]—दीर्घायु के कारण बहुत काल तक संसार के अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि को कहते हैं। यह बुद्धि अनुमान, हेतु, दृष्टान्त आदि से कार्य को सिद्ध करने वाली और लोकहित करने वाली होती है।

इस प्रकार मतिज्ञान का विवेचन पूर्ण हुआ। यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—दोनों सहवर्ती हैं, तथापि पहले मतिज्ञान और उसके अनन्तर श्रुतज्ञान होता है तथा मतिज्ञान अपने स्वरूप का कथन स्वयं नहीं कर सकता है और श्रुतज्ञान के अक्षर रूप होने से मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया जाता है।[4]

---

१. भरनित्थरणसमत्था तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभओलोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी॥

—नन्दीसूत्र, गाथा ७६

२. उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिघोलण विसाला।
साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥ —नन्दीसूत्र १ गाथा, ७३

३. अणुमाण-हेउ-दिट्ठंत-साहिया वयविवाग परिणामा।
हियनिस्सेयसफलवई बुद्धी परिणामिया नाम॥ —नन्दीसूत्र गाथा, ७८

४. मईपुव्वं जेण सुअं न मई सुयपुव्विया। —नन्दीसूत्र, २४

अब आगे की दो गाथाओं में श्रुतज्ञान के चौदह और बीस भेदों का कथन करते हैं।

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं स त्तवि एए सपडिवक्खा ॥६॥
पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य स-समासा ॥७॥

गाथार्थ—अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक और अंगप्रविष्ट तथा इन सात के साथ इनके प्रतिपक्षी अर्थवाले सात नामों को जोड़ने से श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं। पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु एवं पूर्व ये दस तथा इन दसों में से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड़ देने से श्रुतज्ञान से बीस भेद होते हैं।६॥७॥

विशेषार्थ—मतिज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान का विवेचन करते हैं। गाथा ६ में श्रुतज्ञान के चौदह भेदों एवं गाथा ७ में वीस भेदों के नाम संक्षेप में गिनाये हैं। उनमें से पहले चौदह भेदों का और वाद के बीस भेदों का कथन करते हैं।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद—श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का कथन करने के लिए यद्यपि गाथा में सिर्फ सात नामों का उल्लेख है और शेष सात नामों को समझने के लिए कहा गया है कि उक्त नामों से प्रतिपक्षी अर्थ रखने वाले सात नामों को और जोड़ लेना चाहिए। अतएव अक्षर आदि सात नामों के साथ उनके प्रतिपक्षी सात नाम जोड़ने से श्रुत-ज्ञान के निम्नलिखित चौदह नाम हो जाते हैं—

(१) अक्षरश्रुत, (५) सम्यक्श्रुत, (१०) अपर्यवसितश्रुत,
(२) अनक्षरश्रुत, (६) मिथ्याश्रुत, (११) गमिकश्रुत,
(३) संज्ञीश्रुत, (७) सादिश्रुत, (१२) अगमिकश्रुत,
(४) असंज्ञीश्रुत, (८) अनादिश्रुत, (१३) अंगप्रविष्टश्रुत,
(९) सपर्यवसितश्रुत, (१४) अंगबाह्यश्रुत ।[1]

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदों में से यद्यपि अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों में शेष बारह भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है; फिर भी शेष बारह भेदों का कथन इसलिए किया गया है कि सभी प्रकार के जिज्ञासु जन सामान्य और विशेष की अपेक्षा सरलता से समझ सकें।

जिज्ञासुओं के दो प्रकार हैं—(१) व्युत्पन्नमति (प्रखरबुद्धि वाले) और (२) अव्युत्पन्नमति (मन्दबुद्धि वाले)। इनमें से प्रखरबुद्धि वाले तो अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों के द्वारा ही श्रुतज्ञान के बारे में समझ लेते हैं। लेकिन मंदबुद्धि वाले अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत इन दो भेदों के द्वारा शेष भेदों का वर्णन करने व समझने में समर्थ नहीं हैं। अतः उन्हें भी सरलता से ज्ञात कराने की दृष्टि से शेष बारह भेदों का भी उल्लेख किया गया है।

श्रुतज्ञान के उक्त चौदह भेदों की व्याख्या इस प्रकार है—

अक्षरश्रुत—'क्षर संचलने' धातु से अक्षर शब्द बनता है; जैसे—'न क्षरति न चलति इत्यक्षरम्', अर्थात् ज्ञान का नाम अक्षर है। ज्ञान

१. सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पण्णत्तं, तं जहा—अक्खरसुयं, अणक्खरसुयं, सण्णिसुयं, असण्णिसुयं, सम्मसुयं, मिच्छासुयं, साइयं, अणाइयं, सपज्जवसियं, अपज्जवसियं, गमियं, अगमियं, अंगपविट्ठं, अणंगपविट्ठं।
—नन्दीसूत्र ३७

जीव का स्वभाव है और कोई द्रव्य अपने स्वभाव से विचलित नहीं होता है। जीव भी एक द्रव्य है। ज्ञान उसका स्वभाव तथा गुण होने से वह जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है। ज्ञान जीव—आत्मा से कभी नहीं हटता है, सुषुप्ति अवस्था में भी जीव का स्वभाव होने से ज्ञान रहता ही है। अतः श्रुतज्ञान स्वयं ज्ञानात्मक है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुतज्ञान स्वयं अक्षर ही है।

अक्षर के तीन भेद हैं—(१) संज्ञाक्षर, (२) व्यंजनाक्षर और (३) लब्ध्यक्षर।[१]

संज्ञाक्षर[२]—जिस आकृति, बनावट, संस्थान द्वारा यह जाना जाए कि यह अमुक अक्षर है, उसे संज्ञाक्षर कहते हैं। विश्व की विभिन्न लिपियों के अक्षर इसके उदाहरण हैं। वे अपनी आकृति द्वारा उन अक्षरों का बोध कराते हैं; जैसे—अ, आ, इ, ई, उ आदि।

व्यंजनाक्षर[३]—जिससे अकार आदि अक्षरों के अर्थ का स्पष्ट बोध हो, उस प्रकार के उच्चारण को व्यंजनाक्षर कहते हैं, अर्थात् व्यंजनाक्षर केवल अक्षरों के उच्चारण का नाम है। व्यंजनाक्षर का उपयोग केवल बोलने में ही होता है।

लब्ध्यक्षर[४]—शब्द को सुनकर या रूप को देखकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना लब्ध्यक्षर कहलाता है।

---

१. अक्खरसुयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—सन्नक्खरं, वंजणक्खरं, लद्धिअक्खरं। —नन्दीसूत्र ३८

२. सन्नक्खरं अक्खरस्स संठाणगिई। —नन्दीसूत्र ३८

३. वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो। —नन्दीसूत्र ३८

४. लद्धिअक्खरं—अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ। —नन्दीसूत्र ३८

संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर से भावश्रुत पैदा होता है। इसलिए उन दोनों को द्रव्यश्रुत कहते हैं, क्योंकि अक्षर के उच्चारण से उसके अर्थ का बोध होता है और उससे भावश्रुत उत्पन्न होता है। लब्ध्यक्षर को भावश्रुत कहते हैं। कहा भी है—'शब्दादिग्रहण समनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थ पर्यालोचनानुसारि शंखोऽयमित्याद्यक्षरानुविद्धं ज्ञानमुपजायते इत्यर्थः—शब्द ग्रहण करने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शब्दार्थ पर्यालोचनानुसार ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लब्ध्यक्षर कहते हैं।

अनक्षरश्रुत[1]—जो शब्द अभिप्राय पूर्वक वर्णनात्मक नहीं, बल्कि ध्वन्यात्मक किया जाता है, उसे अनक्षरश्रुत कहते हैं। छींकना, चुटकी बजाना, सिर हिलाना, इत्यादि संकेतों से दूसरों का अभिप्राय जानना इसके रूप हैं।

संज्ञीश्रुत—जिन पंचेन्द्रिय जीवों के मन है, वे संज्ञी, और उनका श्रुत संज्ञीश्रुत कहलाता है।

संज्ञा के तीन भेद इस प्रकार हैं—दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी। इनकी व्याख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए।

अमुक काम कर चुका हूँ, अमुक काम कर रहा हूँ और अमुक काम करूँगा इस प्रकार का भूत, वर्तमान और भविष्यत् का ज्ञान जिससे होता है, वह दीर्घकालकी संज्ञा है। यह संज्ञा देव, नारक तथा गर्भज तिर्यंच, मनुष्यों को होती है।

---

१. ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं॥

—नन्दीसूत्र, गाथा ८८

अपने शरीर के पालन के लिए इष्ट वस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति के लिए उपयोगी सिर्फ वर्तमानकालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशकी संज्ञा है। यह संज्ञा द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों के होती है।

दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञा चतुर्दश पूर्वधर को होती है।

असंज्ञीश्रुत—जिन जीवों के मन नहीं है, वे असंज्ञी कहलाते हैं और उनके श्रुत को असंज्ञीश्रुत कहते हैं।

दीर्घकालिकी, हेतुवादोपदेशकी और दृष्टिवादोपदेशकी संज्ञाओं की अपेक्षा संज्ञी और असंज्ञी जीवों की व्याख्या निम्नप्रकार समझना चाहिए।

दीर्घकालिकी की अपेक्षा—जिसके ईहा—सदर्थ के विचारने की बुद्धि, अपोह—निश्चयात्मक विचारणा, मार्गणा—अन्वयधर्म-अन्वेषण करना, गवेषणा—व्यतिरेकधर्म स्वरूप-पर्यालोचन, चिन्ता—यह कार्य कैसे हुआ ? वर्तमान में कैसे हो रहा है और भविष्य में कैसे होगा ? इस प्रकार से वस्तुस्वरूप को अधिगत करने की शक्ति है, उन्हें संज्ञी कहेंगे। इनके अतिरिक्त शेष जीव असंज्ञी कहलायेंगे। जो गर्भज, औपपातिक—देव, नारक मनपर्याप्ति से सम्पन्न हैं, वे संज्ञी कहलायेंगे। क्योंकि त्रैकालिक विषय सम्बन्धी चिन्ता, विमर्श आदि उन्हीं के सम्भव हो सकता है तथा जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नहीं है, उन्हें असंज्ञी कहते हैं। इन असंज्ञियों में सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति के जीवों का समावेश हो जाता है।

हेतुवादोपदेश की अपेक्षा—जो बुद्धिपूर्वक स्वदेह पालन के लिये इष्ट आहार आदि में प्रवृत्ति और अनिष्ट आहार आदि से निवृत्ति लेता है उसे हेतु-उपदेश से संज्ञी कहा जाता है, इसके विपरीत असंज्ञी।

इस दृष्टि की अपेक्षा चार त्रस (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक) संज्ञी और पांच स्थावर (पृथ्वी, जल, तेजस् वायु और वनस्पतिकायिक) असंज्ञी हैं। सारांश यह है कि जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है वे संज्ञी और जिन जीवों के बुद्धि-पूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती है, वे असंज्ञी हैं।

दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा—दृष्टि नाम दर्शन ज्ञान का है। सम्यग्ज्ञान का नाम संज्ञा है। ऐसी संज्ञा जिसके हो वह संज्ञी कहलाता है। 'संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं तदस्यास्तीति संज्ञी—सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं तत्संज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतमित। जो सम्यग्दृष्टि क्षयोपशमज्ञान से युक्त हैं, वह दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी कहलाता है और वह रागादि भावशत्रुओं को जीतने में प्रयत्नशील होता है। उसके श्रुत को संज्ञीश्रुत कहते हैं।

सम्यक्श्रुत—सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत सम्यक्श्रुत कहलाता है।

मिथ्याश्रुत—मिथ्यादृष्टि जीवों के श्रुत को मिथ्याश्रुत कहते हैं।

सादिश्रुत—जिसकी आदि (प्रारम्भ, शुरूआत) हो, वह सादिश्रुत है।

अनादिश्रुत—जिसकी आदि न हो, वह अनादिश्रुत है।

सपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त हो, वह सपर्यवसितश्रुत कहलाता है।

अपर्यवसितश्रुत—जिसका अन्त न हो, वह अपर्यवसितश्रुत है।

पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि, सपर्यवसित और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अनादि, अपर्यवसित है।

गमिकश्रुत—आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता से उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिकश्रुत है, जैसे—दृष्टिवाद।

अगमिकश्रुत—जिसमें एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिकश्रुत कहते हैं, जैसे कालिकश्रुत।

अंगप्रविष्टश्रुत—जिन शास्त्रों की रचना तीर्थङ्करों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, उन्हें अंगप्रविष्ट श्रुत कहते हैं, अर्थात् तीर्थङ्कर वस्तु का स्वरूप—भाव कहते हैं, प्रतिपादन करते हैं और गणधरों के द्वारा उन भावों को सूत्र रूप में गूँथा जाना अंगप्रविष्ट श्रुत है। आचारांग आदि बारह सूत्र अंगप्रविष्टश्रुत हैं।

अंगबाह्यश्रुत—गणधरों के अतिरिक्त, अंगों का आधार लेकर जो स्थविरों के द्वारा प्रणीत शास्त्र हैं, वे अंगबाह्यश्रुत हैं; जैसे—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि सूत्र।

अंगबाह्यश्रुत के दो भेद हैं—(१) आवश्यक और (२) आवश्यक-व्यतिरिक्त। गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमें हो उसे आवश्यक श्रुत[1] कहते हैं। इसके छह अध्ययन हैं—सामायिक, जिनस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत के भी अनेक प्रकार हैं, जिनकी विशेष व्याख्या व नाम आदि की जानकारी के लिए नन्दीसूत्र देखें।

सपर्यवसित और सान्त (अन्तसहित) दोनों का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार अपर्यवसित और अनन्त एकार्थक हैं। सादिश्रुत, अनादि-

---

१. 'आवश्यक' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए अनुयोगद्वार सूत्र, अध्याय ८ देखें।

श्रुत, सपर्यवसितश्रुत और अपर्यवसितश्रुत इन चार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा चार-चार प्रकार होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

द्रव्यापेक्षा—एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि–प्रारम्भ सहित और सपर्यवसित—अन्तसहित है। अर्थात् जब जीव को सम्यक्त्व हुआ तो उसके साथ श्रुतज्ञान भी हुआ। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि–आदि-सहित हुआ और जब सम्यक्त्व का त्याग करता है तब अथवा केवल-ज्ञानी होता है, तब श्रुतज्ञान के क्षायोपशमिक होने से अपूर्ण है और केवलज्ञान क्षायिक होने से यानी पूर्णता को प्राप्त होने से श्रुतज्ञान का अंत हो जाता है। इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा श्रुतज्ञान सादि-सान्त (सपर्यवसित) है।

समस्त जीवों की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है; क्योंकि संसार में सबसे पहले अमुक जीव को श्रुतज्ञान हुआ और अमुक जीव के मुक्त होने से अन्त हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतएव सब जीवों की अपेक्षा धाराप्रवाह रूप से श्रुतज्ञान अनादि, अपर्यवसित—अनन्त है।

क्षेत्रापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त तथा अनादि-अनन्त है; जैसे—भरत और ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थङ्करों द्वारा जब तीर्थ की स्थापना होती है, तब द्वादशांगी श्रुतज्ञान की आदि और जब तीर्थ का विच्छेद होता है तब श्रुतज्ञान का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार श्रुतज्ञान सादि-सान्त हुआ। लेकिन महाविदेह क्षेत्र में तीर्थ का कभी विच्छेद नहीं होता है, इसलिए उस क्षेत्र की अपेक्षा श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

कालापेक्षा—श्रुतज्ञान सादि-सान्त और अनादि-अनन्त है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है; क्योंकि तीसरे आरे के अन्त में और चौथे, पाँचवें आरे में रहता है

तथा छठे आरे में नष्ट हो जाता है। किन्तु नोउत्सर्पिणी, नोअवसर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भावापेक्षा—श्रुतज्ञान में श्रुत शब्द से सम्यक्श्रुत (सुश्रुत) और मिथ्याश्रुत (कुश्रुत) रूप दोनों का ग्रहण किया गया है। श्रुतज्ञान सादि, सान्त और अनादि, अनन्त है। भव्य जीवों के सम्यक् भावों की अपेक्षा से श्रुतज्ञान सादि-सान्त है और अभव्य जीवों के भावों की अपेक्षा से मिथ्या रूप श्रुतज्ञान अनादि-अनन्त है।

भव्यत्व और अभव्यत्व दोनों जीवों के पारिणामिक भाव हैं। पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो द्रव्य के अस्तित्व से स्वयमेव हुआ करता है; अर्थात् द्रव्य के स्वाभाविक स्वरूप परिणमन को पारिणामिक भाव कहते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के चौदह प्रकारों का कथन हो जाने के अनन्तर अब बीस भेदों को संक्षेप में समझाते हैं।

गाथा में पर्याय, अक्षर आदि दस नाम गिनाये हैं। उन नामों तथा उन नामों में से प्रत्येक के साथ समास शब्द जोड़ देने से श्रुतज्ञान के बीस भेदों के नाम निम्नप्रकार से समझ लेने चाहिए—

(१) पर्यायश्रुत,
(२) पर्यायसमासश्रुत,
(३) अक्षरश्रुत
(४) अक्षरसमासश्रुत,
(५) पदश्रुत,
(६) पदसमासश्रुत,
(७) संघातश्रुत,
(८) सघातसमासश्रुत,
(९) प्रतिपत्तिश्रुत,
(१०) प्रतिपत्तिसमासश्रुत,
(११) अनुयोगश्रुत,
(१२) अनुयोगसमासश्रुत,
(१३) प्राभृत-प्राभृतश्रुत,
(१४) प्राभृत-प्राभृतसमासश्रुत
(१५) प्राभृतश्रुत,
(१६) प्राभृतसमासश्रुत

(१७) वस्तुश्रुत, (१९) पूर्वश्रुत और
(१८) वस्तुसमासश्रुत, (२०) पूर्वसमास श्रुत।

इन वीस भेदों को संक्षेप में समझने से पहले समास शब्द का आशय बतलाते हैं।

अधिक, समुदाय या संग्रह को **समास** कहते हैं।

(१) उत्पत्ति के प्रथम समय में लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के होने वाले कुश्रुत के अंश से दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, वह **पर्यायश्रुत** है।

(२) उक्त पर्यायश्रुत के समुदाय अर्थात् दो तीन, चार आदि संख्याओं को **पर्यायसमासश्रुत** कहते हैं।

(३) अकारादि लब्ध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर के ज्ञान को **अक्षरश्रुत** कहते हैं।

(४) लब्ध्यक्षरों के समुदाय को, अर्थात् एक से अधिक दो, तीन, चार आदि संख्याओं के ज्ञान को **अक्षरसमासश्रुत** कहते हैं।

(५) अर्थावबोधक अक्षरों के समुदाय को पद और उसके ज्ञान को **पदश्रुत** कहते हैं।

(६) पदों के समुदाय का ज्ञान **पदसमासश्रुत** कहलाता है।

(७) गति आदि चौदह मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा के एकदेश के ज्ञान को **संघातश्रुत** कहते हैं। जैसे—गतिमार्गणा के देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक—ये चार भेद हैं। उनमें से एक का ज्ञान होना संघातश्रुत है।

(८) किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान **संघातसमास-श्रुत** कहलाता है।

(९) गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिये समस्त संसार के जीवों को जानना **प्रतिपत्तिश्रुत** है।

(१०) गति आदि दो-चार द्वारों के जरिये जीवों का ज्ञान होना **प्रतिपत्तिसमासश्रुत** है।

(११) 'सतपय परूवणया दव्व पमाणं च' इस गाथा में कहे हुए अनुयोग द्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना **अनुयोगश्रुत** है।

(१२) एक से अधिक दो-तीन अनुयोग द्वारों का ज्ञान **अनुयोग-समासश्रुत** है।

(१३) दृष्टिवाद अंग में प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार है। उनमें से किसी एक का ज्ञान **प्राभृत-प्राभृतश्रुत** है।

(१४) दो-चार प्राभृत-प्राभृतों के ज्ञान को **प्राभृत-प्राभृतसमास-श्रुत** कहते हैं।

(१५) जिस प्रकार कई उद्देशों का एक अध्ययन होता है, वैसे ही कई प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होता है। उस एक का ज्ञान होना **प्राभृतश्रुत** है।

(१६) एक से अधिक प्राभृतों के ज्ञान को **प्राभृतसमासश्रुत** कहते हैं।

(१७) कई प्राभृतों का एक वस्तु नामक अधिकार होता है, उसमें से एक का ज्ञान **वस्तुश्रुत** है।

(१८) दो-चार वस्तु अधिकारों के ज्ञान को **वस्तुसमासश्रुत** कहते हैं।

(१९) अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसमें से एक का ज्ञान **पूर्वश्रुत** कहलाता है।

(२०) दो-चार आदि चौदह पूर्वों तक के ज्ञान को पूर्वसमासश्रुत कहते हैं।

चौदह पूर्वों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) उत्पाद, (२) आग्रयणीयप्रवाद (३) वीर्यप्रवाद
(४) अस्तिनास्तिप्रवाद, (५) ज्ञानप्रवाद
(६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद
(९) प्रत्याख्यानप्रवाद (१०) विद्याप्रवाद
(११) कल्याण, (१२) प्राणवाद, (१३) क्रियाविशाल
और (१४) लोकबिन्दुसार।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से श्रुतज्ञान चार प्रकार का है। शास्त्र के वल से श्रुतज्ञानी साधारणतया सव द्रव्य, सव क्षेत्र, सव काल और सव भावों को जानते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनों परोक्ष ज्ञानों का कथन हो जाने के वाद अब आगे की गाथाओं में प्रत्यक्षज्ञानों—अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान—का वर्णन करते है।

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

गाथार्थ—अनुगामी, वर्धमान, प्रतिपाती और इनमें प्रत्येक के प्रतिपक्षी नामों को जोड़ने से अवधिज्ञान के छह भेद होते हैं। ऋजुमति और विपुलमति—ये मनःपर्यायज्ञान के दो भेद हैं तथा केवलज्ञान का एक भेद है, अर्थात् केवलज्ञान का अन्य कोई भेद नहीं होता है।

विशेषार्थ—अवधिज्ञान, मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान—ये तीनों ज्ञान आत्मा से होने वाले ज्ञान होने से प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते हैं, जिनका क्रमशः वर्णन किया जाएगा। सर्वप्रथम अवधिज्ञान का वर्णन करते हैं।

अवधिज्ञान के भेद

अवधिज्ञान के दो भेद हैं—(१) भवप्रत्यय तथा (२) गुण-प्रत्यय।[1] गुणप्रत्यय को क्षयोपशमजन्य भी कहते हैं। किसी गति में सिर्फ जन्म लेने की और किसी गति में संयम, व्रत, तप आदि गुणों की अपेक्षा होने से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो प्रकार कहे गये हैं। इनकी विशद व्याख्या इस प्रकार है—

भवप्रत्यय अवधिज्ञान[2]—भव और प्रत्यय इन दो शब्दों से निष्पन्न यह शब्द बना है। भव माने जन्म और प्रत्यय माने कारण, अर्थात् जो अवधिज्ञान उस-उस गति में जन्म लेने से ही प्रगट होता है, जिसके लिए संयम, तप आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

यह अवधिज्ञान देव और नारकों में होता है और उनके जीवन-पर्यन्त रहता है।

---

१. ओहिनाण-पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवपच्चइयं, च खाओव-समियं च। —नन्दीसूत्र, ६

२. (क) दोण्हं भवपच्चइए पण्णत्ते, तं जहा—देवाणं चेव नेरइयाणं चेव। —स्थानांग, स्थान २. उ० १, सूत्र ७१

(ख) भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २१

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान जन्म लेने से नहीं, किन्तु जन्म लेने के बाद यम-नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के बल से उत्पन्न होता है, उसे गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान कहते हैं।

यह अवधिज्ञान देव और नारकों के नहीं होता, किन्तु मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों को ही होता है।[1]

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय अवधिज्ञा में अन्तर

यद्यपि गुणप्रत्यय की तरह भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी सामान्यतया क्षयोपशम (तयावरणिज्जाणंकम्माणं उदिण्णाणं खएणं अणुदिण्णाणं उवसमेणं) तो अपेक्षित है ही किन्तु यहाँ जो भव की मुख्यता का कथन किया जाता है, वह निमित्त-भेद की अपेक्षा से किया जाता हैं। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं कि जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और उसके द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, अर्थात् उन जाति वालों को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म में व्रत, तप आदि अनुष्ठान नहीं करने पड़ते हैं। ऐसे जीवों को अपनी स्थिति के अनुरूप न्यूनाधिक रूप में जन्म लेते ही अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह उस गति में जीवनपर्यन्त रहता है। जैसे कि पक्षी जाति में जन्म लेने से ही आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति में जन्म लेने मात्र से कोई आकाश में नहीं उड़ सकता, जब तक कि वायुयान आदि का सहारा न ले।

---

१. दोण्हं खओवसमिए पण्णत्ते, तं जहा—मणुस्साणं चेव पंचेंदिय-तिरिक्ख-जोणियाणं चेव।

—स्थानांग, स्थान २, उद्देश [illegible]

उक्त उदाहरण में पक्षी को आकाश में उड़ने की शक्ति जन्मतः प्राप्त होने का संकेत किया है, उसी प्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञान के लिए समझ लेना चाहिए कि देव-नारकों को उस-उस जाति में जन्म लेने से अवधिज्ञान हो जाता है। वहाँ आपेक्षिक दृष्टि से जन्म की मुख्यता और क्षयोपशम की गौणता है। इसीलिए भव की मुख्यता की अपेक्षा भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है।

इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें जन्म लेने मात्र से ही अवधिज्ञान नहीं हो जाता है। किन्तु व्रत-अनुष्ठान आदि के द्वारा अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम होने पर किन्हीं व्यक्ति-विशेषों को अवधिज्ञान होना और उसमें वृद्धिहानि होना भी संभव है। इसीलिए ऐसे अवधिज्ञान को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान में यावज्जीवन कुछ फर्क—अन्तर नहीं पड़ता है, वह समान रहता है। समानता में अल्पता, अधिकता आदि नहीं होती है। किन्तु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में वृद्धि-ह्रास-जन्य तरतमता होने से अल्पाधिकता होती है। इसलिए गाथा में उक्त दोनों प्रकार के अवधिज्ञान में से गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के निम्न-लिखित छह भेद बताये हैं—

(१) अनुगामी, (२) अननुगामी, (३) वर्धमान, (४) हीयमान, (५) प्रतिपाती (६) अप्रतिपाती।[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

अनुगामी—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूसरे

---

१. छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, तं जहा—अणुगामिए, अणाणुगामिते, वड्ढमाणते, हीयमाणते, पडिवाती, अपडिवाती।

—स्थानांग, स्थान ६, सूत्र ५२६

स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है, उसे अनुगामी कहते हैं ; अर्थात् जिस स्थान पर जिस जीव में यह अवधि ज्ञान प्रकट होता है, वह जीव उस स्थान के चारों ओर संख्यात-असंख्यात योजन तक देखता है। इसी प्रकार उस जीव के दूसरे स्थान पर जाने पर भी वह उतने क्षेत्र को जानता-देखता है, उसे अनुगामी कहते हैं। (अनु—पश्चात् गमनं इति अनुगमनं—अनुगच्छतीति, तस्य भावः आनुगामिकं, अर्थात् जो जीव के साथ-साथ जाता रहता है, उसे आनुगामिक कहते हैं।)

अननुगामी—जो साथ न चले, किन्तु जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी स्थान में स्थित होकर पदार्थों के जाने और उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर न जाने, उसे अननुगामी कहते हैं। जैसे किसी का ज्योतिष ज्ञान ऐसा होता है कि अपने निश्चित स्थान पर तो प्रश्नों का ठीक से उत्तर दे सकता है किन्तु दूसरे स्थान पर नहीं। इस प्रकार का अपने ही स्थान पर अवस्थित रहने वाले अवधिज्ञान को अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अल्प विषय वाला होने पर भी परिणाम-विशुद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा को लिए दिनोंदिन बढ़े, अर्थात् अधिकाधिक विषय वाला हो जाता है, वह वर्धमान कहलाता है। जैसे दियासलाई से पैदा की हुई चिनगारी सूखे ईंधन के संयोग से क्रमशः बढ़ती जाती है, वैसे ही इस अवधिज्ञान के लिए समझना चाहिए।

हीयमान—जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण दिनों-दिन क्रमशः अल्प, अल्पतर और अल्पतम विषय वाला हो जाए, उसे हीयमान कहते हैं।

प्रतिपाती— इसका अर्थ पतन होना, गिरना और समाप्त हो जाना है। जो अवधिज्ञान जगमगाते दीपक के वायु के झौंके से एकाएक बुझ जाने के समान एकदम लुप्त हो जाता है, उसे प्रतिपाती कहते हैं। यह अवधिज्ञान जीवन के किसी भी क्षण में उत्पन्न और लुप्त भी हो सकता है।

अप्रतिपाती—जिस अवधिज्ञान का स्वभाव पतनशील नहीं है, उसे अप्रतिपाती कहते हैं। केवलज्ञान होने पर भी अप्रतिपाती अवधिज्ञान नहीं जाता है; क्योंकि वहाँ अवधिज्ञानावरण का उदय नहीं होता है, जिससे जाए। अपितु वह केवलज्ञान में समा जाता है एवं केवलज्ञान के समक्ष उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है, जैसे कि सूर्य के समक्ष दीपक का प्रकाश।

यह अप्रतिपाती अवधिज्ञान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अन्त समय में होता है और उसके बाद तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के प्रथम समय के साथ केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस अप्रतिपाती अवधिज्ञान को परमावधि ज्ञान भी कहते हैं।[१]

हीयमान और प्रतिपाती अवधिज्ञान में यह अन्तर है कि हीयमान का तो पूर्वापेक्षा धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है और प्रतिपाती दीपक की तरह एक ही क्षण में नष्ट हो जाता है।

अवधिज्ञान के उक्त छह भेद नन्दीसूत्र के अनुसार बतलाये गये हैं। लेकिन कहीं-कहीं प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अवस्थित यह दो भेद मानकर छह भेद गिनाये हैं। अनवस्थित और अवस्थित के लक्षण ये हैं—

---

१. यद्यपि अनुगामी और अननुगामी इन दो भेदों में शेष भेदों का अन्तर्भाव हो सकता है। लेकिन वर्धमान, हीयमान आदि विशेष भेद बतलाने के लिए उनका पृथक्-पृथक् न्यास किया गया है।

अनवस्थित—जल की तंरग के समान जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता है, उसे अनवस्थित कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में अवस्थित रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति-पर्यन्त अथवा आजन्म ठहरता है, वह अवस्थित अवधिज्ञान कहलाता है।

उक्त दोनों भेद प्रायः प्रतिपाती और अप्रतिपाती के समान लक्षण वाले हैं। किन्तु मात्र नामभेद की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे जा सकते हैं। अन्य कोई पार्थक्य नहीं है।

अवधिज्ञान का द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वर्णन

अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है। लेकिन कितने, कैसे आदि इस क्षयोपशमजन्य तरतमता को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा की अपेक्षा से स्पष्ट करते हैं।

द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्य से, अर्थात् कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानते-देखते हैं और उत्कृष्ट से अर्थात् अधिक से अधिक सम्पूर्ण रूपी द्रव्यों को जानते-देखते हैं।

क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने क्षेत्र के द्रव्यों को जानते-देखते हैं और उत्कृष्ट से लोक के क्षेत्रगत रूपी द्रव्य को और अलोक में भी कल्पना से यदि लोकप्रमाण से असंख्यात खण्ड किये जायें तो अवधिज्ञानी उन्हें भी जानने-देखने की शक्ति रखता है।

यद्यपि अलोक में कोई पदार्थ नहीं है, तथापि यह कल्पना अवधिज्ञान की सामर्थ्य दिखाने के लिए की गई है कि अलोक में लो

प्रमाण असंख्यात खंड जितने क्षेत्र को घेर सकते हैं, उतने क्षेत्र के रूपी द्रव्यों को जानने और देखने की भी शक्ति अवधिज्ञानी में होती है।

काल से—अवधिज्ञानी जघन्य से आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र के रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण अतीत और अनागत काल के रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

भाव से—जघन्य से रूपी द्रव्य की अनन्त पर्यायों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट से भी अनन्त पर्यायों को जानता-देखता है।

अनन्त के अनन्त भेद होते हैं। चाहे ये भेद जोड़, बाकी, गुणा और भाग रूपों में से किसी भी प्रकार के हों। फिर भी अनन्त भेद ही होंगे। इसलिए जघन्य और उत्कृष्ट अनन्त में अन्तर समझ लेना चाहिए। अनन्त भाव का आशय सम्पूर्ण भावों के अनन्तवें भाव जितना समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मति और श्रुत को कुमति और कुश्रुत (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) कहते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं।[1]

अवधिज्ञान का वर्णन करने के अनन्तर अब मनःपर्यायज्ञान का कथन करते हैं।

---

१. (क) अणाण परिणामेणं भंते कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—मइअणाण परिणामे, सुयअणाण परिणामे, विभंगणाण परिणामे। —प्रज्ञापना, पद १३

(ख) मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ३१

मनःपर्यायज्ञान—मनःपर्यायज्ञान के दो भेद होते हैं—ऋजुमति और विपुलमति ।[1]

ऋजुमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ के सामान्य स्वरूप को जानना, अर्थात् विषय को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मनः-पर्यायज्ञान कहलाता है ।

विपुलमति—दूसरे के मन में स्थित पदार्थ की अनेक पर्यायों को जानना, अर्थात् चिन्तनीय वस्तु की पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना विपुलमति मनःपर्यायज्ञान कहलाता है ।

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यायज्ञान में अन्तर

यद्यपि ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यायज्ञान दोनों ज्ञान होने से विशेष को जानते हैं, तो भी ऋजुमति को जो सामान्यग्राही कहा जाता है, उसका मतलब इतना है कि वह विशेषों को जानता है, परन्तु विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता है। इसीलिए इन दोनों की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं—

द्रव्य से—ऋजुमति मनोवर्गणा के अनन्त-अनन्त प्रदेश वाले स्कन्धों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अधिक प्रदेशों वाले स्कन्धों को विशुद्धता और अधिक स्पष्टता से जानता-देखता है ।

क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कृष्ट से नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्षुल्लक

---

१. मणपज्जवणाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उज्जुमति चेव विउलमति चेव ।

—**स्थानांग, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१**

प्रतर (कुबड़ी उड़ोविजय) तक को और ऊपर ज्योतिष चक्र के उपरि-तल पर्यन्त और तिरछे अढ़ाई द्वीप पर्यन्त के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा अढ़ाई अंगुल अधिक तिरछी दिशा में क्षेत्र के संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को देखता-जानता है।

काल से—ऋजुमति जघन्य से पल्योपम के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग—भूत और भविष्यत् के मनोगत भावों को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक काल के मन से चिन्तित या जिनका चिन्तन होगा, ऐसे पदार्थों को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता-देखता है।

भाव से—ऋजुमति मनोगत भावों की असंख्यात पर्यायों को जानता-देखता है, लेकिन सब भावों के अनन्तवें भाग को जानता-देखता है और विपुलमति ऋजुमति की अपेक्षा कुछ अधिक पर्यायों को विशुद्ध, भ्रमरहित जानता देखता है।

उक्त दोनों प्रकार के मनःपर्यायज्ञानों में द्रव्यादि की अपेक्षा विशेषता होने के साथ-साथ निम्नलिखित कुछ और विशेषताएँ हैं—

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्यायज्ञान सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जानता है।

ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है परन्तु विपुलमति मनःपर्यायज्ञान नहीं जाता है। वह केवलज्ञान में परिणत हो जाता है और तब उसकी सत्ता अकिंचित्कर होती है।[1]

---

१. (क) उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ, पासइ। ते चेव विउलमई अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ, पासइ······इत्यादि। —नन्दीसूत्र १८

(ख) विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। —तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र २४

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान—ये दोनों विकल—अपूर्ण—पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप से समान होने पर भी इन दोनों में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकृत अन्तर है। जैसे—

(१) मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को विशद रूप से जानता है। इसलिए उससे विशुद्धतर है।

(२) अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक है जबकि मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तरपर्वत पर्यन्त मध्यलोक है।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं, किन्तु मनःपर्यायज्ञान के स्वामी ऋद्धिप्राप्त अप्रमत्त—संयत मनुष्य ही होते हैं।

(४) अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, परन्तु मनःपर्यायज्ञान का विषय तो मनोद्रव्य मात्र है।

(५) अवधिज्ञान परभव में भी साथ जा सकता है, जबकि मनः-पर्यायज्ञान इहभविक ही होता है।

अव केवलज्ञान का कथन करते हैं—

केवलज्ञान—जो ज्ञान किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेयपदार्थों को विषय करता है, अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता के बिना मूत-अमूर्त सभी ज्ञेय पदार्थों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखने वाला ज्ञान है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञानादि चारों क्षायोपशमिक ज्ञान विशुद्ध हो सकते हैं किन्तु विशुद्धतम नहीं हो सकते हैं, जवकि केवलज्ञान विशुद्धतम होता है।

केवलज्ञान नित्य, निरावरण, शाश्वत और अनन्त होता है, जबकि शेष क्षायोपशमिक चारों ज्ञान वैसे नहीं हैं। केवलज्ञान के मतिज्ञान आदि की तरह अवान्तर भेद नहीं होते हैं।

शक्ति की अपेक्षा एक साथ कितने ज्ञान ?

ज्ञान के उक्त पाँच भेदों में से एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक भजना से हो सकते हैं; अर्थात् किसी आत्मा में एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव हैं। परन्तु पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते हैं। क्योंकि यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान समझना चाहिए। क्योंकि केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके साथ अन्य चार ज्ञान अपूर्ण होने से नहीं हो सकते। जब दो होते हैं तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। क्योंकि पाँच ज्ञानों में से ये दोनों ज्ञान सहचारी हैं। समस्त संसारी जीवों के ये दोनों ज्ञान सहचारी रूप से रहते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं, तब मति, श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यायज्ञान। क्योंकि तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही संभव हैं और उस अवस्था में चाहे अवधिज्ञान हो, या मनःपर्यायज्ञान, परन्तु मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। जब चारों ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान। क्योंकि ये चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं।

यह जो दो, तीन, चार ज्ञानों का एक साथ होना संभव कहा गया है, सो शक्ति की अपेक्षा से, अभिव्यक्ति की अपेक्षा से नहीं।[1]

---

१. (क) जीवाभि-प्रतिपत्ति ३, सूत्र ४१

(ख) एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थ अ० १, सू० ३०

मन:पर्यायज्ञान और केवलज्ञान पंच महाव्रतधारी मनुष्य को होते हैं, अन्य को नहीं।

इस तरह मतिज्ञान से २८, श्रुतज्ञान के १४ अथवा २०, अवधिज्ञान के ६, मन:पर्यायज्ञान के २ और केवलज्ञान का एक भेद—इन सब भेदों को मिलाने से पांचों ज्ञानों के ५१ या ५७ भेद होते हैं।

ज्ञान के पांचों भेदों का वर्णन हो जाने के बाद आगे की गाथा में उनके आवरणों और दर्शनावरण कर्म के भेदों की संख्या का कथन करते हैं।

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥६॥

गाथार्थ—आँख की पट्टी के समान इन मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानों का जो आवरण है, वह उन ज्ञानों का आवरण कहलाता है। दर्शनावरण कर्म द्वारपाल के समान है और उसके चार दर्शनावरण और पाँच निद्रा कुल मिलाकर नौ भेद होते हैं।

ज्ञानावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरण कहते हैं। जैसे आँख पर पट्टी बांधने पर देखने में रुकावट आती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों के जानने में रुकावट आती है। लेकिन यह रुकावट ऐसी नहीं होती है कि जिससे आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही न हो। जैसे घने बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी दिन-रात का भेद समझाने वाला सूर्य का कुछ-न-कुछ प्रकाश अवश्य बना रहता है। इसी प्रकार कर्मों का चाहे जैसा

गाढ़ आवरण हो जाय, लेकिन आत्मा को कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य रहता है। क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है और आवरण ज्ञानगुण को आच्छादित तो कर सकता है, समूलोच्छेद नहीं कर सकता है। किन्तु केवलज्ञान का अनन्तवां भाग तो नित्य उद्घाटित-अनावरित ही रहता है।[1] यदि ज्ञान का समूलोच्छेद हो जाय तो फिर जीव जीव ही न रहे, अजीव हो जाये, जीव-अजीव का कोई भेद न रहे। ज्ञान आत्मा का गुण (स्वभाव) नहीं माना जा सकता है। ज्ञान के द्वारा ही तो जीव अजीव का भेद किया जाता है कि ज्ञान जीव का गुण है, अजीव का नहीं। स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। इसलिए ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित ही कर सकता है। समूल नाश नहीं।

यहाँ आंखों पर पट्टी का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि जैसे मोटे, पतले कपड़े की पट्टी होगी, तदनुसार कम-ज्यादा दिखेगा। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की आच्छादन शक्ति में भी न्यूनाधिक रूप से पृथक्-पृथक् शक्ति होती है।

ज्ञान के पाँचों भेदों का कथन पूर्व में किया गया है। अतः उनके आवरण करने वाले कर्म के निम्नलिखित पाँच भेद होते हैं—

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण
(४) मनःपर्यायज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।[2]

---

१. सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागोणिच्चुग्घाडिओ हवई।
जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा॥
—नन्दीसूत्र ७५

२. (क) नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं मणनाणं च केवलं॥
—उत्तराध्ययन, उ० ३३, गा० ४

इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

मतिज्ञानावरण—मतिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मतिज्ञानावरण कहलाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के मतिज्ञानों के आवरण करने वाले भिन्न-भिन्न कर्मों को भी मतिज्ञानावरण कहेंगे। क्योंकि पूर्व में जो मतिज्ञान के अट्ठाइस, तीनसौ छत्तीस व तीनसौ चालीस भेद बतलाये हैं तो उनके आवरण करने वाले कर्मों के नाम भी उतने ही होंगे। लेकिन वे सब भेद मतिज्ञान के हैं, इसलिए उन सबका सामान्य से मतिज्ञान शब्द से और उन-उनका आवरण करने वाले कर्मों का मतिज्ञानावरण इस एक शब्द से ग्रहण कर लिया गया है।

श्रुतज्ञानावरण—श्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरण कहते हैं। पहले श्रुतज्ञान के चौदह या बीस भेद कहे गये हैं। उनके आवरण करने वाले कर्मों को भी सामान्य की अपेक्षा श्रुतज्ञानावरण कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण—जो कर्म अवधिज्ञान का आवरण करता है। पूर्वोक्त अवधिज्ञानों के आवरण करने वाले कर्मों को भी अवधिज्ञानावरण कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञानावरण—जो कर्म मनःपर्यायज्ञान का आवरण करे। मनःपर्यायज्ञानों का आवरण करने वाले कर्म को भी मनःपर्यायज्ञानावरण कहते हैं।

केवलज्ञानावरण—केवलज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को केवलज्ञानावरण कहते हैं।

(ख) स्थानांग, स्थान ५, उ० ३, सूत्र ४६४

(ग) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्।

—**तत्त्वार्थसूत्र, अ० ८,**

ज्ञानावरण कर्म की उक्त पाँच प्रकृतियां सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[1] जो प्रकृति अपने घात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे, वह सर्वघाती और जो अपने घात्य ज्ञान गुण का आंशिक रूप से घात करे, वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण यह चार प्रकृतियाँ देशघाती हैं और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का आशय प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से है। केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं करता है, परन्तु केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है।

दर्शनावरण कर्म के स्वभाव के लिए द्वारपाल का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल किसी को राजा के दर्शन नहीं करने देता, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म जीव को पदार्थों को देखने की शक्ति में रुकावट डालता है। दर्शनावरण चतुष्क और पाँच निद्राओं को मिलाकर दर्शनावरण कर्म के नौ भेद होते हैं।

दर्शनावरण चतुष्क के नाम और लक्षण आगे की गाथा में कहते हैं।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

गाथार्थ—नेत्र तथा नेत्र के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों व मन तथा अवधि व केवल इनसे दर्शन के चार भेद होते हैं। यहाँ वस्तु में विद्यमान सामान्य धर्म के ग्रहण को दर्शन कहा गया

---

१. णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।

—स्थानांगसूत्र २।४।१०५

है। दर्शन के चार प्रकार कहे गये हैं, अतः उसके आवरण करने वाले कर्मों के भी चार भेद समझने चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का स्वरूप

विशेषार्थ—प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष रूप दो धर्म रहते हैं, उनमें से सामान्य धर्म की अपेक्षा जो पदार्थों की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं और दर्शन को आवरण करने वाले कर्म को दर्शनावरण कहते हैं।

दर्शन के चार भेद कहे गये हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन। दर्शन के इन चार भेदों का आवरण करने से दर्शनावरण के भी उस नाम वाले निम्नलिखित चार भेद हो जाते हैं—

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

चक्षुदर्शनावरण—चक्षु के द्वारा जो वस्तु के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं और उस सामान्य-धर्म के ग्रहण को रोकने वाले कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुदर्शनावरण—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषयभूत सामान्य धर्म के प्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसके आवरण करने वाले कर्म को अचक्षुदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरण—इन्द्रियों और मन की सहायता के आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म के वोध होने को कहते हैं। उसको आवृत करने वाले कर्म को कहते हैं।

केवलदर्शनावरण—सम्पूर्ण द्रव्यों के होने वाले सामान्य धर्म के अवबोध को केवलदर्शन एवं उसके आवरण करने वाले को केवलदर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शन की तरह मनःपर्यायदर्शन नहीं मानने का कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान क्षयोपशम के प्रभाव से पदार्थों के विशेष धर्मों को ग्रहण करते हुए उत्पन्न होता है, सामान्य धर्म को ग्रहण करते हुए उत्पन्न नहीं होता है।

चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों के जन्म से ही नेत्र नहीं होते हैं एवं चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों के नेत्र उक्त कर्म के उदय से नष्ट हो जाते हैं अथवा रतौंधी आदि नेत्ररोग हो जाने से कम दीखने लगता है। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन का जन्म से ही न होना अथवा जन्म से होने पर भी कमजोर या अस्पष्ट होना अचक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय के कारण होता है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेदों में से चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदों का कथन करने के अनन्तर निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि शेष पाँच भेदों एवं वेदनीय कर्म का कथन आगे की दो गाथाओं में करते हैं।

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस पयलपयला य चंकमओ ॥११॥
दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

गाथार्थ—जिसमें सरलता से प्रतिवोध हो, उसे निद्रा और जिसमें कष्ट से प्रतिवोध हो उसे निद्रा-निद्रा तथा बैठे-बैठे या

खड़े-खड़े जो नींद आये उसे प्रचला एवं चलते-चलते नींद आने को प्रचला-प्रचला निद्रा कहते हैं। दिन में विचार किये हुए कार्य को रात्रि में निद्रावस्था में करने वाली निद्रा को स्त्यानर्द्धि निद्रा कहते हैं। इस निद्रा में जीव को अर्धचक्री अर्थात् वासुदेव के वल से आधे वल जितनी शक्ति हो जाती है। वेदनीय कर्म मधु (शहद) से लिप्त तलवार की धार को चांटने के समान है और यह कर्म दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—दर्शनावरण कर्म के नौ भेदों में से चक्षुदर्शनावरण आदि चार भेदों का वर्णन पूर्व गाथा में हो चुका है और शेष पाँच भेदों व वेदनीयकर्म का कथन यहाँ किया जाता है।

दर्शनावरण के शेष पाँच भेदों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।[1] इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी निद्रा आये कि सुख-पूर्वक जाग सके, अर्थात् जगाने में मेहनत नहीं पड़ती है, ऐसी निद्रा को निद्रा कहते हैं।

---

१. (क) णवविधे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा निद्दा, निद्दानिद्दा, पयला, पयलापयला, थीणगिद्धी चक्खुदंसणावरणे, अचक्खुदंसणावरणे, अवधिदंसणावरणे, केवलदंसणावरणे।

—स्थानांग०, स्था० ९, सूत्र ६६८

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, गाथा ५, ६

(ग) चक्षुरचक्षु रवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलाप्रचला स्त्यान-गृद्धयश्च।

—तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८,

निद्रा-निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को नींद से जगाना अत्यन्त दुष्कर हो, अर्थात् जो सोया हुआ जीव बड़े जोर से चिल्लाने या हाथ से जोर से हिलाने पर भी मुश्किल से जागता है, ऐसी नींद को निद्रा-निद्रा कहते हैं।

प्रचला—जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आने लगे, उसको प्रचला कहते हैं।

प्रचला-प्रचला—जिस कर्म के उदय से चलते-फिरते ही नींद आ जाय, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं।

स्त्यानर्द्धि—जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में करने की सामर्थ्य प्रकट हो जाय, उसे स्त्यानर्द्धि कहते हैं। इस निद्रा के उदय में जीव नींद में ऐसे असंभव कार्यों को भी कर लेता है, जिनका जाग्रत स्थिति में होना संभव नहीं है और इस निद्रा के दूर होने पर अपने द्वारा निद्रित अवस्था में किये गये कार्य का स्मरण भी नहीं रहता है।

स्त्यानर्द्धि का दूसरा नाम स्त्यानगृद्धि भी है। जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाये (**स्त्याने स्वप्ने यया वीर्यविशेषप्रादुर्भावः सा स्त्यानगृद्धिः**) अथवा जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकांक्षा का एकत्रीकरण हो जाय, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा (**स्त्यानासंघातीभूता गृद्धिर्दिनचिन्तितार्थ साधन विषयाऽभिकांक्षा यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः**) कहते हैं।

प्राकृत भाषा में स्त्यानगृद्धि के स्थान पर 'थीणद्धि' यह निपात हो जाता है।

यदि वज्रऋषभनाराच संहनन वाले जीव को स्त्यानगृद्धि निद्रा का उदय हो तो उसमें वासुदेव के आधे बल के बराबर बल हो जाता है। इस निद्रा वाला जीव मरने पर नरक में जाता है।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप में दो प्रकार का है। दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों में से चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण देशघाती हैं और शेष रही छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं। सर्वघाती प्रकृतियों में केवलदर्शनावरण मुख्य है।

इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेदों का कथन हो जाने के अनन्तर अब वेदनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

वेदनीय कर्म का स्वरूप

वेदनीय—जो कर्म इन्द्रियों के विषयों का अनुभवन, अर्थात् वेदन करावे, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव तलवार की शहद लगी धार को चाटने के समान है। इस कर्म के उदय से जीव विषयजन्य ऐन्द्रियिक सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है।

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय, असातावेदनीय।[१] तलवार की धार में लगे हुए शहद को चाँटने के समान साता वेदनीय है और शहद चाँटते समय उस धार से जीभ कटने के समान असातावेदनीय है।

सातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिय विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति में दुःख का अनुभव होता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

---

१. (क) सायावेअणिज्जे य आसायावेअणिज्जे।
—प्रज्ञापना, पद २३, उ० २, सू० २९३

(ख) वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च अहियं।
—उत्तराध्ययन, अ० ३३, गा०

(ग) सदसद्वेद्ये।
—तत्वार्थसूत्र, अ० ८

वेदनीय कर्म द्वारा आत्मा को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह इन्द्रिय विषयजन्य सुख-दुःख ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को जो स्वरूप के सुख की अनुभूति होती है, वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं होती है। वेदनीयकर्म-जन्य सुख-दुःख की अनुभूति क्षणिक होती है। गाथा में वेदनीय कर्म के लिए मधुलिप्त तलवार की धार का दृष्टान्त देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिकसुख दुःख से मिला हुआ ही है। उसमें निराकुलता नहीं होती है। परिणाम कटुक होते हैं, जो संसार बढ़ाने के कारण हैं।

दर्शनावरण व वेदनीयकर्म के भेदों को कहने के बाद अब आगे की गाथा में चार गतियों में वेदनीय कर्म का स्वरूप बतलाते हुए मोहनीय कर्म की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं।

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

गाथार्थ—देव और मनुष्य गति में प्रायः सातावेदनीय कर्म का और तिर्यंच एवं नरक गति में असातावेदनीय कर्म का उदय होता है। मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य के समान है और दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है।

विशेषार्थ—चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय विषयजन्य सुख-दुःख का अनुभव करते रहते हैं। वे न तो एकान्त रूप से सुख-ही-सुख का और न दुःख-ही-दुःख का वेदन करते हैं। उनका सुख, दुःख से मिश्रित होता है और सुख के बाद दुःख एवं दुःख के अनन्तर सुख का क्रम चलता रहता है। फिर भी किन गतियों में सातावेदनीय का और किन गतियों में असातावेदनीय का

विशेष रूप से उदय होने का कथन गाथा के पूर्वार्द्ध में किया गया है कि देवों और मनुष्यों को प्रायः सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है। यहाँ प्रायः शब्द से यह सूचित किया गया है कि उनके सातावेदनीय के अलावा असातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है। चाहे वह उदय अल्पांश में ही हो, परन्तु उसकी संभावना है।

जैसे बहुत से देवों के देवगति से च्युत होने के समय अपनी ऋद्धि की अपेक्षा अन्य देवों की विशाल ऋद्धि को देखने से ईर्ष्या, मात्सर्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, तब तथा अन्यान्य अवसरों पर भी असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ करता है। इसी प्रकार मनुष्यों के बारे में समझ लेना चाहिए अथवा गर्भावस्था में एवं स्त्री, पुत्र आदि प्रियजनों के वियोग, धन-संपत्ति के नाश आदि कारणों से भी उनको दुःख हुआ करता है।

तिर्यंचों और नारक जीवों को प्रायः असातावेदनीय कर्म का उदय हुआ करता है। यहाँ प्रायः शब्द से यह सूचित किया गया है कि उन्हें सातावेदनीय का भी उदय हुआ करता है, किन्तु ऐसे अवसर कम ही होते हैं। जैसे तिर्यंचों में किन्हीं-किन्हीं हाथी, घोड़े, कुत्ते, आदि जीवों का बड़े लाड़-प्यार से लालन-पालन किया जाता है। इसी प्रकार नारक जीवों में भी तीर्थङ्करों के जन्म आदि कल्याणकों के समय कुछ सुख का अनुभव हुआ करता है।

देवों में सांसारिक सुखों का विशेष अनुभव होता है और मनुष्यों को उनसे कम। इसी प्रकार निगोदिया जीवों और नारकों में दुःख का विशेष अनुभव होता है और उनकी अपेक्षा अन्य तिर्यंच जीवों को कम अनुभव होता है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म का विवेचन हो जाने के अनन्तर क्रम-प्राप्त मोहनीय कर्म का वर्णन करते हैं।

मोहनीय कर्म का स्वरूप

मोहनीय कर्म का स्वभाव मद्य (शराब) के समान है। जैसे मद्य के नशे में मनुष्य अपने हिताहित का भान भूल जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव में अपने स्वरूप एवं हिताहित को पहचानने और परखने की बुद्धि नहीं होती है। कदाचित् अपने हिताहित को परखने की बुद्धि भी आ जाए तो भी तदनुसार आचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर पाता है।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—

(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय।[1]

दर्शनमोहनीय—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ-श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसको घात करने वाले—आवृत करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कहते हैं। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा समझना चाहिए। सामान्य उपयोग रूप दर्शन को ग्रहण नहीं करना चाहिए। वह इस दर्शन से भिन्न है।

चारित्रमोहनीय—आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चारित्र है। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चारित्र गुण को घात करने वाले कर्म को चारित्रमोहनीय कहते हैं।

---

१. (क) मोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविधे पणत्ते ? गोयमा दुविहे पणत्ते, तं जहा दंसणमोहणिज्जे य चरित्तमोहणिज्जे य।

—प्रज्ञापना, कर्मबंध पद २३, उ० २

(ख) मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा।

—उत्तराध्ययन अ० ३३, गा० ८

इस प्रकार सामान्य से मोहनीय कर्म के भेद बतलाने के अनन्तर आगे की गाथा में दर्शनमोहनीय का विशेष कथन करते हैं।

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

गाथार्थ---दर्शनमोहनीय कर्म सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकारों में क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीय शुद्ध, मिश्रमोहनीय अर्द्धशुद्ध और मिथ्यात्वमोहनीय अशुद्ध होता है ।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयकर्म बन्ध की अपेक्षा मिथ्यात्वरूप ही है, किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा से आत्मपरिणामों के द्वारा उसके सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्वमोहनीय ये तीन भेद हो जाते हैं।[1]

इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं--

सम्यक्त्वमोहनीय—जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नहीं पहुँचाता, परन्तु आत्म-स्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो पाता है और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शंका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व में मलीनता आ जाती है।

---

१. (क) दंसणमोहणिज्जे णं भंत्ते कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, स[illegible] त्तवेयणिज्जे । —प्रज्ञापना, कर्मबंध, पद

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, गाथा ९

मिश्रमोहनीय—इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खटमिट्ठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए।

मिथ्यात्वमोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। सन्मार्ग से विमुख रहता है, जीव, अजीव आदि तत्त्वों के ऊपर श्रद्धा नहीं करता है और अपने हित-अहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। हित में अहितबुद्धि और अहित में हितबुद्धि होती है, अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल सर्वघाती रस वाले होते हैं। उस रस के एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक—ये चार प्रकार होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण यह है कि जो रस सहज अर्थात् स्वाभाविक है, उसे एकस्थानक कहते हैं। उसी रस के स्वाद में तीव्रता लाने के लिए अग्नि द्वारा तपाकर उसका आधा भाग जला दिया जाय तो शेष रहे आधे भाग को द्विस्थानक कहेंगे। इसी प्रकार दो भाग जला दिये जायें और एक भाग शेष रहे तो उसे त्रिस्थानक और तीन भाग जलाकर सिर्फ एक भाग रखा जाय तो उसे चतुः-स्थानक कहते हैं। जनसाधारण की भाषा में चतु:स्थानक को चौथाई, त्रिस्थानक को तिहाई और द्विस्थानक को आधा भाग और जो स्वाभा-विक है, उसे एकस्थानक कह सकते हैं। जैसे—नीम या ईख का एक-

एक किलो रस लिया जाय तो उन-उन के मूल रस को एकस्थानक कहेंगे। लेकिन जब इस एक किलो रस को अग्नि से तपाकर आधा कर लिया जाय तो द्विस्थानक और दो भाग कम करके एक भाग शेष रखें तो त्रिस्थानक और जब एक चतुर्थांश भाग ही शेष रखा जाए तो चतु:स्थानक कहेंगे।

इस प्रकार शुभ-अशुभ फल देने की कर्म की तीव्रतम शक्ति को चतु:स्थानक, तीव्रतर शक्ति को त्रिस्थानक, तीव्र शक्ति को द्विस्थानक और मंद शक्ति को एकस्थानक समझना चाहिए। इनमें से द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतु:स्थानक रस सर्वघाती हैं और मिथ्यात्व मोहनीय में चतु:स्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक—ये तीनों प्रकार की सर्वघाती रस-शक्ति होती है। मिश्रमोहनीय (सम्यग्मिथ्यात्व-मोहनीय) में द्विस्थानक रस-शक्ति होती है और सम्यक्त्वमोहनीय में एकस्थानक रसशक्ति होती है।

जैसे कोद्रव (कोदों-एक प्रकार का अन्न) के खाने से नशा होता है, परन्तु जब उन कोदों का छिलका निकाल दिया जाय और छाछ आदि से धोकर शोध लिया जाए तो उसमें मादक शक्ति बहुत न्यून रह जाती है। इसी प्रकार कोदों के समान हिताहित की परीक्षा करने में जीव को विफल बनाने वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल होते हैं। उनमें सर्वघाती रस होता है लेकिन जब जीव अपने विशुद्ध परिणामों के बल से उन कर्मपुद्गलों की सर्वघाती रस-शक्ति को घटा देता है और सिर्फ एकस्थानक शेष रह जाता है, तब इस एकस्थानक शक्ति वाले मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय कहा जाता है और कुछ भाग शुद्ध एवं कुछ भाग अशुद्ध ऐसे कोदों के समान मोहनीय के कर्मपुद्गलों को समझना चाहिए। इन

द्विस्थानक रस होता है । इन तीनों प्रकारों में मिथ्यात्वमोहनीय सर्व घाती है और शेष दो—सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय देशघाती हैं

इस प्रकार मोहनीय कर्म के दो भेदों में से दर्शनमोहनीय के तीन प्रकारों को बतलाकर अब आगे की गाथा में उन तीनों में से सम्यक्त्वमोहनीय का स्वरूप कहते हैं ।

जियअजिय पुण्णपावासव संवरबन्धमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइयं तयँ सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ।

गाथार्थ—जिस कर्म से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, मोक्ष और निर्जरा इन नवतत्त्वों पर जीव श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्वमोहनीय है । उसके क्षायिक आदि बहुत-से भेद होते हैं ।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि नव तत्त्वों प श्रद्धा होती है, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं । ऐसा कहने में अभि प्राय यह है कि जिस प्रकार चश्मा आँखों का आच्छादक होने पर भ देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय कर आवरण रूप होने पर भी आत्मा को तत्त्वार्थ-श्रद्धान करने में व्याघात नहीं पहुँचाता है ।

नवतत्त्व

नव तत्त्वों के नाम ये हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संव निर्जरा, बंध, मोक्ष और ।[1] जिनके संक्षेप में लक्षण इस प्रकार हैं—

---

१. नव सब्भाव पयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा पुण्णं पावो आस संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो । —स्थानांग, स्थान ९, सूत्र ६६

पाप। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करता है वह द्रव्य-पाप है और जीव के अशुभ परिणाम को भावपाप कहते हैं। पाप अशुभ प्रकृति रूप है और अशुभ योगों से बँधता है। पापप्रकृति के बयासी भेद हैं।

आस्रव—शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं—द्रव्यास्रव, भावास्रव। शुभ-अशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली अथवा शुभ-अशुभ परिणामों से स्वयं उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभ-अशुभ परिणामों को भावास्रव कहते हैं। आस्रव तत्त्व के बयालीस भेद हैं।

संवर—आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। आस्रव के ब्यालीस भेद हैं। उनका जितने-जितने अंशों में निरोध होगा, उतने-उतने अंशों में संवर कहलायेगा। यह संवर (आस्रव का निरोध) गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र आदि से होता है।[1] संवर के दो भेद हैं–भावसंवर और द्रव्यसंवर। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भावसंवर और कर्मपुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्यसंवर कहते हैं। संवर के सत्तावन भेद हैं।

निर्जरा—आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्मपुद्गलों के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो प्रकार हैं—१. द्रव्यनिर्जरा, २. भावनिर्जरा। आत्मप्रदेशों से कर्मों

---

१. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइंदिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो हवइ अणासवो॥

—उत्तराध्ययन, ३।३०

का एकदेश पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा-जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते हैं। निर्जरा के बारह भेद हैं।

बंध—आस्रव द्वारा आये हुए कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिलना बंध कहलाता है। राग-द्वेष आदि कषायों और योग प्रवृत्ति के द्वारा संसारी जीव कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है।[१] यह क्रम अनादि से चालू है कि राग, द्वेष, कषाय आदि के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और उन कर्मपुद्गलों के सम्बन्ध से कषायवान होता है। योग और कषाय कर्मबंध के कारण हैं। बंध के दो प्रकार हैं—भावबंध और द्रव्यबंध। आत्मा के जिन परिमाणों से कर्मबंध होता है अथवा कर्मबंध से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणामों को भावबंध कहते हैं और कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिलना द्रव्यबंध कहलाता है। बंध के चार भेद हैं।

मोक्ष—संपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष के दो प्रकार हैं—द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। संपूर्ण कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्यमोक्षजनक अथवा द्रव्यमोक्षजन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है। मोक्ष के नौ एवं पन्द्रह भेद हैं।[२]

उक्त नवतत्त्वों में से जीव, अजीव और बंध ज्ञेय हैं। पुण्य, पाप और आस्रव हेय हैं और संवर, निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय हैं।

---

१. परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादिभावेहि ॥

२. नव तत्त्व का विशेष वर्णन देवेन्द्रसूरिरचित स्वोपज्ञटीका गाथा १५ से ३२ में देखिए।

किन्हीं-किन्हीं ग्रंथों में पुण्य और पाप—इन दोनों तत्त्वों का आस्रव या बंध तत्त्व में समावेश करके सिर्फ सात तत्त्व कहे हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए कि पुण्य-पाप—दोनों द्रव्य-भाव के रूप से दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप हैं। इसलिए द्रव्य रूप पुण्य और पाप बंधतत्त्व में अन्तर्भूत हैं। क्योंकि आत्मसंबद्ध द्रव्य कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्य बंधतत्त्व कहलाता है। इसी प्रकार द्रव्यपुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप कहलाता है, दोनों बंधतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि बंध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय परिणाम ही भावबंध कहलाता है। आस्रव-तत्त्व में गर्भित करने के लिए भी शुभाशुभ परिणामों और उनसे आने वाले शुभाशुभ कर्मपुद्गलों के आने को आस्रव तत्त्व में ग्रहण कर लेना चाहिए।

सम्यक्त्व के भेद

पूर्वोक्त जीवादि नव तत्त्वों के श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व के कई भेद हैं। किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) व्यवहार सम्यक्त्व और (२) निश्चय सम्यक्त्व। किसी अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्व, औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, सास्वादन सम्यक्त्व, दीपक सम्यक्त्व इत्यादि भेद होते हैं। संक्षेप में इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

व्यवहार सम्यक्त्व—कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना व्यवहार-सम्यक्त्व कहलाता है।

निश्चयसम्यक्त्व—जीवादि तत्त्वों का यथारूप से श्रद्धान करना निश्चयसम्यक्त्व है।[1] यह आत्मा का वह परिणाम है, जिसके होने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय—दर्शन मोहनीय की इन तीन प्रकृतियों के क्षय होने पर आत्मा में जो परिणाम-विशेष होता है, उसे क्षायिकसम्यक्त्व कहते हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व—दर्शनमोहनीय की पूर्वोक्त तीन प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उदय में आये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों का क्षय तथा जो उदय को प्राप्त नहीं हुए, उन पुद्गलों का उपशम इस प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षयोपशम होता है। यहाँ जो मिथ्यात्व का उदय कहा गया है; वह प्रदेशोदय की अपेक्षा समझना चाहिए, रसोदय की अपेक्षा नहीं। औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय और प्रदेशोदय—दोनों प्रकार का उदय नहीं होता है और प्रदेशोदय को ही उदयाभावी क्षय कहते हैं। जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नहीं होता, वह प्रदेशोदय तथा जिसका उदय आत्मा पर प्रभाव डालता है, वह रसोदय है।

---

१. (क) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० २

(ख) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं य।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥ —समयसा

वेदकसम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब सम्यक्त्व मोहनीय के अंतिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। वेदकसम्यक्त्व के बाद जीव को क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

सास्वादनसम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, तब तक के उसके परिणामविशेष को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादन को सासादन भी कहते हैं।

कारकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं—सामायिक, प्रतिक्रमण, गुरुवंदन आदि को करना कारकसम्यक्त्व है।

रोचकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं में रुचि रखने को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

दीपकसम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं से होने वाले लाभों का समर्थन, प्रसार करना, दीपकसम्यक्त्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अन्य भेदों के लक्षण समझ लेने चाहिए।

इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय का कथन हो जाने के अनन्तर आगे की गाथा में दर्शनमोहनीय के शेष भेदों—मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय के स्वरूप को कहते हैं।

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहजहा अन्ने।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥ १६॥

गाथार्थ—जैसे नालिकेर द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को अन्न पर राग-द्वेष नहीं होता है, वैसे ही मिश्रमोहनीय कर्म के कारण

जिनधर्म पर भी राग-द्वेष नहीं होता है। इसका समय अन्त-मुर्हूर्त मात्र है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीव जिनोक्त धर्म से विपरीत श्रद्धान करने वाला होता है।

विशेषार्थ—गाथा में मिश्रमोहनीय (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोहनीय) और मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के परिणामों व उनके स्वरूप को बतलाया गया है।

जैसे नालिकेर द्वीप (जहाँ नारियल के सिवाय दूसरे खाद्यान्न पैदा नहीं होते हैं) में उत्पन्न मनुष्य ने अन्न के विषय में कुछ न सुना हो और न देखा हो तो उसे अन्न के बारे में न तो रुचि-राग होता है और न अरुचि-द्वेष होता है, किन्तु तटस्थ रहता है। इसी प्रकार जब मिश्र-मोहनीय कर्म का उदय होता है, तब जीव के वीतरागप्ररूपित धर्म पर रुचि-अरुचि (राग-द्वेष) नहीं होती है। अर्थात् वीतराग ने जो कुछ कहा है, वह सत्य हैं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा नहीं होती है और वह असत्य है, अविश्वसनीय है, इस प्रकार अरुचि रूप द्वेष भी नहीं होता है। वीतरागी और सरागी एवं उनके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है। मिश्रमोहनीय का उदयकाल अन्तमुर्हूर्त है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को जीवादि तत्त्वों के स्वरूप, लक्षण और जिन-प्ररूपित धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती है। जैसे रोगी को पथ्य चीजें अच्छी नहीं लगती हैं और कुपथ्य चीजें अच्छी लगती हैं, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से वीतराग प्ररूपित धर्म-सिद्धान्तों पर द्वेष और उससे विपरीत सिद्धान्तों पर राग होता है।

मिथ्यात्व के दस भेद[1] —

(१) साधु को साधु न समझना ।

(२) असाधु को साधु समझना ।

(३) अहिंसामूलक धर्म को धर्म नहीं मानना ।

(४) हिंसा, झूठ आदि अधर्म—पापमूलक कार्यों को धर्म मानना। जिन कृत्यों या विचारों से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है ।

(५) अजीव को जीव समझना ।

(६) जीव को अजीव समझना-मानना । जैसे गाय, पक्षी, जल, वनस्पति आदि मूक प्राणियों में आत्मा नहीं है ।

(७) कुमार्ग को सन्मार्ग समझना । अर्थात् आत्मा को संसार में परिभ्रमण करानेवाले कारणों को अच्छा मानना । केवलीप्ररूपित मार्ग से विपरीत प्ररूपणा सही मानना ।

(८) सुमार्ग को उन्मार्ग समझना, अर्थात् मोक्ष के कारणों को संसारबंध के कारण कहना ।

(९) कर्मरहित को कर्मसहित मानना। जैसे परमात्मा निष्कर्म हैं, किन्तु उन्हें भक्तों की रक्षा और दैत्यों का नाश करने वाला कहना ।

(१०) कर्मसहित को कर्मरहित मानना । भक्तों की रक्षा और दैत्यों

---

१. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा ।
—स्थानांग १०, सूत्र, ७३४

हो उसे कषाय कहते हैं।[1] कषायमोहनीय के सोलह भेद होते हैं, जिनका संक्षेप में निरूपण करते हैं।

मूल रूप में कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद हैं। इन चारों के लक्षण इस प्रकार हैं—

क्रोध—समभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना। दूसरे पर रोष करना क्रोध है।

मान—गर्व, अभिमान, झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं।

माया—कपट भाव, अर्थात् विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

लोभ—ममता-परिणामों को लोभ कहते हैं।

इन कषायों के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मंद स्थिति के कारण चार-चार प्रकार हो जाते हैं, जो क्रमशः अनन्तानुबंधी (तीव्रतम स्थिति), अप्रत्याख्यानावरण (तीव्रतर स्थिति), प्रत्याख्यानावरण (तीव्र स्थिति) तथा संज्वलन (मंद स्थिति) के नाम से कहे जाते हैं। इनके लक्षण ये हैं—

अनन्तानुबंधी—जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबंधी कहते हैं।[2]

---

१. कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययंति व जतो गमयंति कसं कसायत्ति॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२९

२. अनन्तानुवंधी-सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

अप्रत्याख्यानावरण—जो कषाय आत्मा के देशविरतिगुण-चारित्र (श्रावकपन) का घात करे, अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आंशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होती है।[1]

प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में वाधा हो, अर्थात् श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के उदय होने पर एक देश त्याग रूप श्रावकाचार के पालन करने में तो वाधा नहीं आती है, किन्तु सर्वत्याग–साधुधर्म का पालन नहीं हो जाता है।[2]

संज्वलन—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात-चारित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परिषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म के पालन करने को प्रभावित करे, असर डाले, उसे संज्वलन कहते हैं। यह कषाय सर्वविरित चारित्र पालन करने में वाधा डालती है।[3]

उक्त अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकारों के साथ कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार मूल भेदों को जोड़ने से कषाय-मोहनीय के सोलह भेद निम्न प्रकार से हो जाते हैं—

---

१. अप्रत्याख्यानकषायोदयद्विरतिर्न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

२. प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतिर्भवत्युत्तम चारित्रलाभस्तु न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

३. संज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति। तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

अनन्तानुवन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यानावरण—क्रोध, मान, माया, लोभ।
संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।[१]

उक्त चारों प्रकार की चार-चार कषायों को संक्षेप में कहने के लिए 'चतुष्क' या 'चौकड़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे अनन्तानुबंधी चतुष्क या अनन्तानुबंधी चौकड़ी कहने से अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ का ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन चतुष्क के लिए भी समझ लेना चाहिए।

कषायों के भेदों का कथन करने के अनन्तर नोकषाय-मोहनीय के स्वरूप का कथन करते हैं।

नोकषाय—जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं। हास्य, रति आदि नोकषाय के प्रकार हैं, जिनका कथन यथाप्रसंग किया जा रहा है। इस विषय का एक श्लोक इस प्रकार है—

कषायसहवर्तित्वात् कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

---

१. कसायवेदणिज्जे णं भंते ! कतिविधे पण्णत्ते ?
गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते, तं जहा—अणंताणुवंधी कोहे, अणंताणुवंधी माणे, अ० माया, लोभे, अपच्चक्खाणे कोहे एवं माणे, माया, लोभे, पच्चक्खणावरणे कोहे एवं माणे, माया, लोभे, संजलणा कोहे एवं माणे माया लोभे।
—प्रज्ञापना : कर्मवंधपद २३, उ० २

कषायों के सहवर्ती होने से और कषायों के सहयोग से पैदा होने से एवं कषायों को उत्पन्न कराने में प्रेरक होने से हास्यादि नोकषायों का अन्यकषायों के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिए। अर्थात् नोकषायों को कषायरूप प्राप्त करने में कषायों का सहकार आवश्यक है और उनके संसर्ग से ही नोकषायों की अभिव्यक्ति होती है। वैसे वे निष्क्रिय-सी हैं। केवल नोकषाय प्रधान नहीं हैं।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय के कषाय और नोकषाय मोहनीय इन दो भेदों और उन दोनों भेदों के उत्तर भेदों की संख्या आदि का संक्षेप में संकेत किये जाने के अनन्तर आगे की गाथा में कषाय-मोहनीय के अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकारों के सम्बन्ध में विशेष वर्णन करते हैं।

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार की कषायों की कालमर्यादा क्रमशः जीवनपर्यन्त, एक वर्ष, चार मास एवं पन्द्रह दिन (एक पक्ष) की है और वे क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति की वंध की कारण हैं तथा सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यातचारित्र का क्रमशः घात करती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अनन्तानुवंधी आदि कषाय मोहनीय के चारों प्रकारों की काल मर्यादा, उनसे वंधने वाली गतियों एवं आत्मा के घात होने वाले गुणों का नाम-निर्देश किया गया है। विशेष स्पष्टीकरण क्रमशः इस प्रकार है—

अनन्तानुबंधी कषाय जीवनपर्यन्त रहती है, अर्थात् यह कषाय जन्मजन्मान्तर तक भी विद्यमान रहती है। इसके सद्भाव में नरक गति के योग्य कर्मों का बंध होता है और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाली है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय की कालमर्यादा एक वर्ष है और इसके उदय से तिर्यंचगति का बंध होता है। इसके कारण जीव देशविरति (श्रावकचारित्र) को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय की मर्यादा चार माह है। इसके उदय से जीव के मनुष्यगति के योग्य कर्मों का बंध होता है और यह जीव के सर्वविरति (श्रमणधर्म) चारित्र का घात करती है, अर्थात् सर्वविरति चारित्र नहीं हो पाता है।

संज्वलन कषाय की कालमर्यादा एक पक्ष की है। इस प्रकार की कषायों की स्थिति में जीव को देवगति के योग्य कर्मों का बंध होता हैं तथा यथाख्यातचारित्र नहीं हो पाता है।

अनन्तानुबंधी आदि कषायों की समयमर्यादा विषयक पूर्वोक्त संकेत व्यवहार नय की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि बाहुबलि आदि को संज्वलन कषाय एक वर्ष तक रही और प्रसन्नचन्द राजर्षि को अनन्तानुबंधी कषाय का उदय एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए ही हुआ। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय का उदय रहते हुए भी कुछ मिथ्यादृष्टियों के नवग्रैवेयकों में उत्पन्न होने का वर्णन देखने को मिलता है।

इस प्रकार अनन्तानुबंधी आदि कषायों के चार प्रकारों की कालमर्यादा आदि बतलाने के अनन्तर उनका दृष्टान्त के द्वारा विशेष स्वरूप का कथन करते हैं।

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥
मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

गाथार्थ—क्रोध—जल, रेणु, पृथ्वी और पर्वतराजि के समान, मान—वेत्रलता, काष्ठ, अस्थि और शैल—पत्थर—स्तम्भ के समान, माया—अवलेखिका गोमूत्रिका, भेड़ के सींग, घनवंशी के मूल के समान और लोभ—हरिद्रारंग, दीपक के काजल के रंग, कीचड़ के रंग एवं किरमिची रंग के समान चार-चार प्रकार समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त आत्मा के परिणामों को दृष्टान्तों के द्वारा समझाया गया है । इनमें क्रमशः पहले से संज्वलन, दूसरे से प्रत्याख्यानावरण, तीसरे से अप्रत्याख्यानावरण और चौथे से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के प्रतीकों को गिनाया है, जैसे—

संज्वलन क्रोध जल में खींची गई रेखा सदृश, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि में खीची गई रेखा सदृश, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी में खींची गई रेखा के समान और अनन्तानुबंधी क्रोध पर्वत में आई दरार के समान होता है । इसी प्रकार संज्वलन आदि के मान, माया, लोभ के लिए दृष्टान्त के प्रतीकों का क्रमशः सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए । जिनका विवेचन अग्रिम पृष्ठों पर अंकित है—

संज्वलन क्रोध—जल में खींची जाने वाली रेखा के समान यह क्रोध तत्काल शान्त हो जाता है ।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध—जैसे धूलि में खींची गई रेखा हवा के द्वारा कुछ समय में भर जाती है वैसे ही इस प्रकार का क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो जाता है ।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—सूखी मिट्टी में आई दरार जैसे पानी के संयोग से फिर भर जाती है, वैसे ही इस प्रकार के क्रोध की शान्ति कुछ परिश्रम और प्रयत्न द्वारा हो जाती है ।

अनन्तानुबंधी क्रोध—पर्वत के फटने से आई दरार कभी नहीं जुड़ती, इसी प्रकार यह क्रोध परिश्रम और उपाय करने पर भी शान्त नहीं होता है ।

संज्वलन मान—बिना परिश्रम के नमाये जाने वाले बेंत के समान क्षणमात्र में अपने आग्रह को छोड़कर नमने वाला होता है ।

प्रत्याख्यानावरण मान—सूखे काष्ठ में तेल आदि की मालिश करने पर नरमाई आने की संभावना हो सकती है । इसी प्रकार यह मान कुछ परिश्रम और उपाय से दूर होने वाला होता है ।

अप्रत्याख्यानावरण मान—जैसे हड्डी को नमाने के लिए कठिन परिश्रम के सिवाय उपाय भी करना पड़ता है, वैसे ही यह मान अति परिश्रम और उपाय से दूर होता है ।

अनन्तानुबंधी मान—जैसे कठिन परिश्रम से पत्थर के खम्भे को नमाना असंभव है, वैसे ही यह मान भी दूर नहीं होता है ।

संज्वलन माया—बाँस के छिलके में रहने वाला टेढ़ापन बिना श्रम के सीधा हो जाता है, उसी प्रकार यह मायाभाव सरलता से दूर हो जाता है ।

प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए मूतने वाले बैल की मूत्ररेखा की वक्रता के समान कुटिल परिणाम वाली होती है। यह कुटिल स्वभाव कठिनाई से दूर होता है।

अप्रत्याख्यानावरण माया—भेड़ के सींगों में रहने वाली वक्रता कठिन परिश्रम व अनेक उपाय द्वारा दूर होती है। इसी प्रकार के परिणाम वाली माया को अप्रत्याख्यानावरणी माया कहते हैं। यह मायापरिणाम अति परिश्रम व उपाय से सरल होते हैं।

अनन्तानुबंधी माया—बांस की जड़ में रहने वाली वक्रता—टेढ़ेपन का सीधा होना संभव नहीं है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी माया के परिणाम होते हैं।

संज्वलन लोभ—सहज ही छूटने वाले हल्दी के रंग के समान इस लोभ के परिणाम होते हैं।

प्रत्याख्यानावरण लोभ—काजल के रंग के समान इस लोभ के परिणाम कुछ प्रयत्न से छूटते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ—गाड़ी के पहिये की कीचड़ के समान अति कठिनता से छूटने वाले परिणाम वाला होता है।

अनन्तानुबंधी लोभ—जैसे किरमिची रंग किसी भी उपाय से नहीं छूटता है, वैसे ही इस प्रकार के लोभ के परिणाम उपाय करने पर भी नहीं छूटते हैं।

इस प्रकार कषायमोहनीय के भेदों का निरूपण करने के अनन्तर आगे दो गाथाओं में नोकषायमोहनीय के भेदों का वर्णन करते हैं।

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा[1] वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥
पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

गाथार्थ—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के भाव पैदा होते हैं, उन्हें क्रमशः नोकषाय मोहनीय के हास्यादि जुगुप्सा पर्यन्त भेद समझना चाहिए। जिस कर्मके उदय से पुरुष, स्त्री और पुरुष-स्त्री दोनों से रमण करने की मैथुनेच्छा उत्पन्न होती है, उसे क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कहते हैं। इन तीनों वेदों के अभिलाषा-भाव क्रमशः करीषाग्नि, तृणाग्नि और नगरदाह के समान होते हैं।

विशेषार्थ—कषायमोहनीय के सोलह भेदों का कथन करने के पश्चात् नोकषायमोहनीय के नौ भेदों का कथन इन दो गाथाओं में किया गया है। नौ भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा, (७) स्त्रीवेद, (८) पुरुषवेद और

---

१. 'सनिमित्तमन्नहा वा'—'सनिमित्त'—कारणवश और 'अन्न हा' बिना कारण के—इन दोनों में तात्कालिक बाह्य पदार्थ कारण हों तो सकारण और मात्र मानसिक विचार ही निमित्त हों तो—अकारण, बिना कारण के, ऐसा आशय 'सनिमित्तमन्नहा' पद से विवक्षित किया गया है।

(९) नपुंसकवेद।[1] इन नामों के आगे 'मोहनीय कर्म' शब्द जोड़ लेना चाहिए। उक्त नौ भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

हास्य—जिस कर्म के उदय से कारणवश, अर्थात् भाँड़ आदि की चेष्टा देखकर अथवा बिना कारण के हंसी आती है, उसे हास्यमोहनीय कर्म कहते हैं, अर्थात् हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्य-मोहनीय कर्म कहलाता है।

रति—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों में राग-प्रेम हो, उसे रति-मोहनीय कर्म कहते हैं।

अरति—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के पदार्थों से अप्रीति—द्वेष होता है, उसे अरति-मोहनीय कर्म कहते हैं।

शोक—कारणवश या बिना कारण ही जिस कर्म के उदय से शोक हो, उसे शोक-मोहनीय कर्म कहते हैं।

भय—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या विना कारण भय हो—डर पैदा हो, भयशीलता उत्पन्न हो, उसे भय-मोहनीय कर्म कहते हैं।

भय के सात प्रकार हैं—

(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय (चोर, डाकू आदि से भय होना), (४) अकस्मात भय (आकस्मिक दुर्घटना-

---

१ नोकसाय वेयणिज्जे णं भंत्ते ! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविधे पण्णत्ते, तं जहा-इत्थीवेय वेयणिज्जे पुरिसवे० नपुंसगवे० हासे रती अरती भए सोगे दुगुंछा। —प्रज्ञापना० कर्मबन्ध पद २३, उ० २

जन्य भय होता है), (५) आजीविका भय, (६) मृत्यु भय, और (७) अपयश भय।[1]

जुगुप्सा[2]—जिस कर्म के उदय से कारण या बिना कारण के ही बीभत्स–घृणाजनक पदार्थों को देखकर घृणा पैदा होती है, उसे जुगुप्सा-मोहनीय कर्म कहते हैं।

मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। मैथुनेच्छा की पूर्ति के योग्य नाम कर्म के उदय से प्रगट बाह्य चिन्ह विशेष को द्रव्यवेद और तदनुरूप अभिलाषा को भाव-वेद कहते हैं। वेद के तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इनके लक्षण और भाव निम्न प्रकार हैं—

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद कहते हैं। इसकी अभिलाषा के भाव करीषाग्नि के समान होते हैं। करीष माने सूखा गोबर, उपला, कंडा, छान, ठेपली। जैसे—उपले में सुलगी हुई आग जैसे-जैसे जलाई जाए वैसे-वैसे बढ़ती है, वैसे ही पुरुष के करस्पर्श आदि व्यापार से स्त्री की अभिलाषा बढ़ती है।

---

१. सत्त भयठाणा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणाभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए।

—स्थानांग ७।५४९

२. कुच्छा का संस्कृत में कुत्सा रूप बनता है। इसके घृणा और निन्दा अर्थ होते हैं। घृणा का आशय यहाँ स्पष्ट किया है। लेकिन जब निन्दा-रूप अर्थ लिया जाए तब अपने दोष छिपाने और दूसरे के दोष प्रकट करने रूप आशय समझ लेना चाहिए।

पुरुषवेद—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे पुरुषवेद कहते हैं। इस वेद वाले की अभिलाषा में दृष्टान्त तृणाग्नि का दिया है। जैसे तृण की अग्नि शीघ्र जलती है और शीघ्र बुझती है, उसी प्रकार पुरुष की मैथुन की अभिलाषा शीघ्र उत्तेजित होकर शान्त हो जाती है।

नपुंसकवेद—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा हो, उसे नपुंसकवेद कहते हैं। इसकी कामवासना के लिए नगरदाह का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे नगर में आग लगे तो वह कई दिन तक नगर को जलाती है और उसको बुझाने में बहुत दिन लगते हैं। इसी प्रकार नपुंसकवेद के उदय से उत्पन्न अभिलाषा चिरकाल तक निवृत्त नहीं होती और विषयसेवन से तृप्ति भी नहीं होती।

इस प्रकार नोकषायमोहनीय के नौ भेदों का कथन पूर्ण हुआ।[1] ये मुख्य कषायों की सहकारी और उद्दीपक होने से नोकषाय कहलाती हैं।

चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी क्रोधादि सोलह कषायों और नोकषाय मोहनीय के नौ भेदों में से संज्वलनकषाय चतुष्क और नोकषाय के अतिरिक्त शेष बारह प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३३, गाथा ११ में 'सत्तविहं णवविहं वा कम्मं च णोकसायजं'—नोकषाय मोहनीय के सात या नौ भेदों का जो कथन है, उसका कारण यह है कि जब वेद के स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद ये तीन भेद नहीं करके सामान्य से वेद को गिनते है तो हास्यादि छह और वेद ये सात भेद हो जाते हैं और वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये तीन भेद किए जाते हैं तो नौ भेद होते है। साधारणतया नोकषाय मोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ भी नौ भेदों के नाम गिनाये गए हैं और विवेचन किया गया है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म का निरूपण करने के अनन्तर आयु और नाम कर्म के स्वरूप आदि का वर्णन करते हैं।

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

गाथार्थ—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के भेद से आयुकर्म चार प्रकार का है और इसका स्वभाव हड़ि (खोड़ा, बेड़ी) के समान है। नामकर्म का स्वभाव चित्रकार के सदृश है और उसके बयालीस, तिरानवै, एकसौ तीन और सड़सठ भेद होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आयुकर्म और नामकर्म का स्वभाव तथा उन-उन कर्मों के अवान्तर भेदों की संख्या बतलाई है। उनमें से पहले आयुकर्म का वर्णन करते हैं।

आयुकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक रूप से जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपों का त्याग करता है यानी मर जाता है, उसे आयुकर्म कहते हैं।[1]

आयुकर्म का स्वभाव कारागृह के समान है। जैसे अपराधी अपराध के अनुसार अमुक काल तक कारागृह में डाला जाता है और अपराधी उससे छुटकारा पाने की इच्छा भी करता है, किन्तु अवधि पूरी हुए विना निकल नहीं पाता है, उसे निश्चित समय तक रहना पड़ता है। वैसे ही आयुकर्म के कारण जीव को निश्चित अवधि तक नारकादि गतियों में रहना पड़ता है। जब बाँधी हुई आयु भोग लेता है, तभी उस-उस शरीर से छुटकारा मिलता है।

---

१. यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं तदायुः। —तत्वार्थ राजवार्तिक ८।१०।२

वर्ष जीवी—देवकुरु, उत्तरकुरु आदि में उत्पन्न—मनुष्य, तिर्यंच[1] अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष मनुष्य, तिर्यंच अपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं।

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बंध परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में बांधी जाती है। उस समय अगर परिणाम मंद हों तो आयु का बंध शिथिल हो जाता है, जिससे निमित्त मिलने पर बंधकालीन काल मर्यादा घट जाती है। अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बंध गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बंधकालीन कालमर्यादा नहीं घटती है और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है। तीव्र परिणाम से गाढ़ रूप से बद्ध आयु शस्त्र, विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मंद परिणाम से शिथिल रूप से बद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले भी अन्तर्मुहूर्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को अपवर्तना या अकालमृत्यु और नियत स्थिति वाले भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते हैं।

अपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम (तीव्र शस्त्र, विष, अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकाल मृत्यु होती है, उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है) सहित होती है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के अवश्य होता है। क्योंकि वह आयु कालमर्यादा समाप्त होने के पहले

---

१. असंख्यातवर्ष जीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों में और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक हैं, परन्तु असंख्यातवर्ष जीवी तिर्यंच उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के बाहर द्वीप समुद्रों में भी पाये जाते हैं।

हाथी, घोड़े, सिंह, हिरन, मनुष्य आदि नाना प्रकार के अच्छे-बुरे रूप वनाता है। उसी प्रकार नामकर्म जीव के अनेक प्रकार के अच्छे बुरे रूप बनाता है। इसीलिए नामकर्म के लिए चित्रकार की उपमा दी जाती है नामकर्म का लक्षण यह है—

नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य, और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे अथवा शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं।[1]

अपेक्षाभेद से नामकर्म की संख्या कई प्रकार से कही जाती है। जैसे किसी अपेक्षा से बयालीस, किसी अपेक्षा से तिरानवै, किसी अपेक्षा से एकसौ तीन और किसी अपेक्षा से सड़सठ भेद हैं।

अब आगे की गाथा में नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के नाम और संख्या-भेद के लिए अपेक्षा सम्बन्धी कारणों का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम आगे की दो गाथाओं में चौदह पिंड प्रकृतियां और आठ प्रत्येक प्रकृतियां कहते हैं।

गइजाइतणुऊवंगा बन्धणसंघायणाणि संघयणा।
संठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥
पिंडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोयं।
अगुरुलहुतित्थनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

---

१. विचित्र पर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीवं तन्नाम।
जह चित्तयरो निउणो अणेगरूवाइं कुणइ रूवाइं।
सोहणमसोहणाइं चोक्खमचोक्खेहिं वण्णेहिं ॥
तह नामंपि हु कम्मं अणेगरूवाइं कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइं इट्ठाणिट्ठाइं लोयस्स ॥
—स्थानांग २।४। १०५ टीका

गाथार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति ये नामकर्म की पिंड १४ प्रकृतियां है और पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण और उपघात ये आठ प्रत्येक प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में नामकर्म के अपेक्षाभेद के कारण बयालीस, तिरानवे आदि भेद होने का संकेत किया गया है। संक्षेप या विस्तार से कहने की अपेक्षा ही इस संख्याभेद का कारण है। इन भेदों में कुछ प्रकृतियां अवान्तर भेद वाली और कुछ अवान्तर भेद वाली नहीं हैं। इन भेदों में जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद होते हैं—उन्हें पिंड, प्रकृति और जिन के अवान्तर भेद नहीं होते हैं उन्हें प्रत्येक, प्रकृति कहते हैं। इन्हीं अवान्तर भेदों के होने और अवान्तर भेद नहीं होने के कारण नामकर्म की प्रकृतियों के बयालीस, तिरानवे आदि भेद हो जाते हैं। सर्वप्रथम बयालीस भेदों का कथन करने के लिए चौदह पिंड प्रकृतियों और आठ प्रत्येक प्रकृतियों के नाम इन दो गाथाओं में बतलाये हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

पिंड प्रकृतियां—(१) गति, (२) जाति, (३) शरीर, (४) अंगोपांग, (५) बंधन, (६) संघातन, (७) संहनन, (८) संस्थान, (९) वर्ण, (१०) गंध, (११) रस, (१२) स्पर्श, (१३) आनुपूर्वी और (१४) विहायोगति।

प्रत्येकप्रकृतियां—(१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थङ्कर, (७) निर्माण और (८) उपघात।[1]

१ (क) प्रज्ञापना उ० २, पद २३, सूत्र २९३ (ख) समवायांग स्थान

ये सब नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, इसलिए इनका उच्चारण करते समय प्रत्येक के साथ नामकर्म शब्द जोड़ लेना चाहिए। जैसे गतिनामकर्म, जातिनामकर्म, शरीरनामकर्म आदि।

ऊपर कही गई पिंडप्रकृतियों की परिभाषायें इस प्रकार हैं—

गति—जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की पर्याय प्राप्त करता है, उसे गतिनामकर्म कहते हैं।

जाति—जिस कर्म के उदय से जीव स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पांच, इन्द्रियां प्राप्त कर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसे जातिनामकर्म कहते हैं।

शरीर—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर बनें अथवा औदारिक आदि शरीरों की प्राप्ति हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं।

अंगोपांग—जिस कर्म के उदय से जीव के अंग—हाथ, पैर, सिर आदि और उपांग—अंगुलि आदि रूप में पुद्‌गलों का परिणमन होता है, उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

बन्धन—जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत औक्षारिक आदि शरीर पुद्‌गलों के साथ नवीन ग्रहण किए जाने वाले पुद्‌गलों का सम्बन्ध हो, उसे बन्धननामकर्म कहते हैं।

संघात—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किए हुए शरीर पुद्‌गलों पर नवीन ग्रहण किए जा रहे शरीर योग्य पुद्‌गल व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं, उसे संघात नामकर्म कहते हैं।

संहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधियां दृढ़ होती हैं, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं।

संस्थान—जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार बनें, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं।

वर्ण—जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रंग होते हैं, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं।

गन्ध—जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ-अच्छी या अशुभ-बुरी गन्ध हो, उसे गंधनामकर्म कहते हैं।

रस—जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ-अशुभ रसों की उत्पत्ति हो उसे रस नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं।

आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

विहायोगति[1]—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊंट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति कहते हैं।

इन पिंड-प्रकृतियों के अवान्तर भेद-प्रभेदों की संख्या और उनके नामों का संकेत आगे की गाथाओं में यथास्थान किया जा रहा है।

---

१. विहायोगति में विहायस् विशेषण पुनरुक्ति दोष निवारण हेतु दिया गया है। सिर्फ गति शब्द रखने पर नामकर्म की पहली प्रकृति का नाम भी गति होने से पुनरुक्ति दोष हो सकता था। जीव की चाल अर्थ में गति शब्द को समझने के लिए विहायस् शब्द है, न कि देवगति, मनुष्य-गति आदि के अर्थ में।

नाम कर्म की २८ प्रत्येक प्रकृतियों में से आठ के नाम गाथा में कहे गये हैं। उनके लक्षण ग्रंथ में आगे कहे जायेंगे। अतः यहाँ उनके लक्षण नहीं कहे हैं।

नामकर्म के अपेक्षा-भेद से बयालीस भेदों में से पिंडप्रकृतियों के चौदह और प्रत्येक प्रकृतियों के आठ भेद कहे जा चुके हैं। शेष रहे बीस भेदों को त्रसदशक और स्थावरदशक में ग्रहण किया गया है। जिनके नाम आगे की दो गाथाओं में कहते हैं।

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥
थावर सुहम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा बीसं ॥२७॥

गाथार्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्ति ये त्रसदशक की दस प्रकृतियाँ हैं और स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशः कीर्ति ये स्थावरदशक की दस प्रकृतियाँ हैं। त्रसदशक और स्थावरदशक की उक्त दस-दस प्रकृतियों को जोड़ने से नामकर्म की बीस प्रकृतियाँ होती हैं।

विशेषार्थ—प्रत्येक प्रकृतियों के अट्ठाइस नामों में से पूर्वगाथा में बताई गई आठ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही बीस प्रकृतियों के नाम त्रसदशक और स्थावरदशक के रूप में इन दो गाथाओं में कहे हैं। त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक के नामों की संख्या दस होने से इनको

त्रसदशक और स्थावर से लेकर अयशः कीर्ति पर्यन्त नामों के भी दस भेद होने से उनको स्थावरदशक कहते हैं। इन दोनों दशकों के दस-दस प्रकृति के नामों को मिलाने से कुल वीस भेद हो जाते हैं।

त्रस दशक की दस प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येक-नाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुस्वर-नाम, (९) आदेयनाम और (१०) यशःकीर्तिनाम।

स्थावरदशक की प्रकृतियों के दस नाम ये हैं—

(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्तनाम, (४) साधारणनाम, (५) अस्थिरनाम, (६) अशुभनाम, (७) दुर्भगनाम, (८) दुःस्वरनाम, (९) अनादेयनाम तथा (१०) अयशःकीर्तिनाम।[1]

इन वीस प्रकृतियों में से त्रसदशक की प्रकृतियों की गणना पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावरदशक की प्रकृतियों की गणना पापप्रकृतियों में की जाती है। इन प्रकृतियों के लक्षण ग्रंथ में आगे कहे जा रहे हैं।

---

१. (क) त्रसदशक और स्थावरदशक की प्रकृतियों के नाम के लिए देखें—
प्रज्ञापना सूत्र, उ० २, पद २३ सूत्र २९३ का 'तसणामे थावरणामे ······*अजसोकित्तिणामे*' का अंश।

(ख) समवायांग, सम ४२

(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरस-गन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसिसेतराणि तीर्थकृत्त्वं च।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।१२

इस प्रकार नाम कर्म के बयालीस भेदों के नामों का कथन करने के अनन्तर ग्रंथलाघव की दृष्टि से त्रस आदि इन बीस प्रकृतियों की कतिपय संज्ञाओं, (संकेतों) को दो गाथाओं द्वारा कहते हैं।

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥
वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्क मिच्चाई।
इय अन्नावि विभासा तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥२९॥

गाथार्थ—प्रारम्भ होने वाली प्रकृति के नाम सहित आगे की संख्या की पूर्णता तक गिनने से त्रसचतुष्क, स्थिरषट्क, अस्थिरषट्क, सूक्ष्मत्रिक, स्थावरचतुष्क, सुभगत्रिक, वर्ण-चतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, त्रसद्विक, त्रसत्रिक, त्रसचतुष्क, त्रसषट्क इत्यादि संज्ञाएँ (विभाषाएँ) हो जाती हैं। इसी प्रकार अन्य भी उन-उन संख्यक प्रकृतियों के नाम गिनने से और और संज्ञाएँ समझ लेनी चाहिए।

विशेषार्थ—शास्त्र का अर्थ समझने के लिए विस्तार न करना पड़े और जिज्ञासुओं को संक्षेप में कथन का आशय समझाने के लिए संकेत-पद्धति अपनाई जाती है। इसीलिए इस ग्रंथ को भी इसी सुगम शैली को अपनाकर कुछ संज्ञाओं का निर्धारण किया गया है। संकेत, विभाषा, संज्ञा ये शब्द समानार्थक हैं।

प्रकृति के नामनिर्देश पूर्वक किये गये दो, तीन, चार आदि संज्ञाओं के संकेत से उस प्रकृति के नाम-सहित आगे की प्रकृतियों के नामों को गिनकर संख्या की पूर्ति करने से ये संज्ञाएँ बनती हैं। इस प्रकार से

बनने वाली कुछ संज्ञाओं का संकेत इन दो गाथाओं में किया गया है, जो इस प्रकार है—

त्रसचतुष्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम।

स्थिरषट्क—(१) स्थिरनाम, (२) शुभनाम, (३) सुभगनाम, (४) सुस्वरनाम, (५) आदेयनाम, (६) यशःकीर्तिनाम।

अस्थिरषट्क—(१) अस्थिरनाम, (२) अशुभनाम, (३) दुर्भग-नाम, (४) दुःस्वरनाम, (५) अनादेयनाम, (६) अयशःकीर्तिनाम।

स्थावरचतुष्क—(१) स्थावरनाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्त-नाम (४) साधारणनाम।

सुभगत्रिक—(१) सुभगनाम, (२) सुस्वरनाम, (३) आदेयनाम।

वर्णचतुष्क—(१) वर्णनाम, (२) गंधनाम, (३) रसनाम, (४) (४) स्पर्शनाम।

अगुरुलघुचतुष्क—(१) अगुरुलघुनाम, (२) उपघातनाम, (३) पराघातनाम, (४) उच्छ्वासनाम।

त्रसद्विक—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम।

त्रसत्रिक—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम।

त्रसषट्क—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम।

गाथा में आये आदि शब्द का यह अर्थ समझना चाहिए कि कर्म-प्रकृतियों को संक्षेप में समझने के लिए इसी प्रकार की और दूसरी संज्ञाएँ बना लेनी चाहिए। जैसे—

दुर्भगत्रिक—(१) दुर्भगनाम, (२) दुःस्वरनाम, (३) [illegible]

स्त्यानर्द्धित्रिक—(१) स्त्यानर्द्धि, (२) निद्रा-निद्रा, (३) प्रचला-प्रचला ।

तेइसवीं गाथा में अपेक्षा-भेद से नाम कर्म के ४२, ६३, १०३ और ६७ भेद होना कहा गया था । उनमें से बयालीस भेदों के नाम—१४ पिंड-प्रकृति, ८ प्रत्येकप्रकृति, १० त्रसदशक में गर्भित प्रकृतियां १० स्थावरदशक में गर्भित प्रकृतियां—और उनको संकेतों द्वारा संक्षेप में समझाने के लिए संज्ञाओं का कथन किया जा चुका है । अब शेष रहे अपेक्षाभेद से बनने वाले नामकर्म के ६३, १०३ और ६७ भेदों का निरूपण आगे की गाथा में करते हैं ।

प्रथम नामकर्म के ६३ भेदों को कहने के लिए १४ पिंड प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं ।

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छवकं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

गाथार्थ—पूर्व में कही गई नामकर्म की गति आदि चौदह पिण्डप्रकृतियों के क्रमशः चार, पाँच, पांच, तीन, पांच, पांच, छह, छह, पांच, दो, पाँच, आठ, चार और दो भेद होते हैं । इन सब भेदों को जोड़ने से कुल पैसठ भेद हो जाते हैं ।

विशेषार्थ—अपेक्षा भेद से नामकर्म के तेरानवै आदि भेद भी कहे हैं । अतः उनको कहने के लिए चौवीसवीं गाथा में कही गई पिंड-प्रकृतियों में से उनके उत्तर भेदों की संख्या इस गाथा में बतलाई है । गाथा में प्रकृतियों के नाम न देकर उनके उत्तर भेदों की संख्या ही कही है । अतः चौवीसवीं गाथा में कही गई प्रकृतियों के नामों के आगे इस गाथा में बताई गई संख्या को क्रमशः इस प्रकार जोड़ना चाहिए—

गतिनाम के ४ भेद, जातिनाम के ५ भेद, शरीरनाम के ५ भेद, अंगोपांगनाम के ३ भेद, बन्धननाम के ५ भेद, संघातननाम के ५ भेद, संहनननाम के ६ भेद, संस्थाननाम के ६ भेद, वर्णनाम के ५ भेद, गन्धनाम के २ भेद, रसनाम के ५ भेद, स्पर्शनाम के ८ भेद, आनुपूर्वी नाम के ४ भेद, विहायोगतिनाम के २ भेद।

इस प्रकार नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के उक्त गतिनाम कर्म के ४ भेद, जातिनाम कर्म के ५ भेद आदि विहायोगति नाम-कर्म के २ भेद पर्यन्त भेदों को मिलाने से उत्तरभेदों की समस्त संख्या ६५ होती है।

नामकर्म की ९३, १०३ और ६७ प्रकृतियां होने के कारण तथा वन्ध आदि की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों की भिन्न संख्या को निम्नलिखित दो गाथाओं में स्पष्ट करते हैं—

अडवोस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥
इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

गाथार्थ—नामकर्म की पिंड प्रकृतियों के उक्त पैंसठ भेदों में अट्ठाईस प्रकृतियों को मिलाने से तेरानवै भेद तथा इनमें वन्धन के पन्द्रह भेद जोड़ने से एकसौ तीन भेद तथा पाँच शरीरों में बंधन तथा संघातन के भेदों को ग्रहण करने और सामान्य से वर्णचतुष्क का ग्रहण किए जाने से बंध, उदय और उदीरण के सड़सठ भेद समझ लेना चाहिए। वन्ध के समय सम्यक्त्व व मिश्रमोहनीय का बंध नहीं होने से बंध, उदय

और सत्ता की अपेक्षा समस्त आठ कर्मों की क्रमशः एक सौ बीस, एकसौ बाईस और एकसौ अट्ठावन प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

विशेषार्थ—अपेक्षा-भेद से नामकर्म के तेरानवे आदि भेद होने का कथन जो पहले गाथा में कहा था, वे भेद कैसे बनते हैं तथा बंध आदि की कितनी प्रकृतियाँ हैं, यह इन दो गाथाओं में बतलाया है।

पूर्व गाथा में जो नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों के ६५ भेद बतलाये हैं, उनमें पराघात आदि आठ और त्रसदशक व स्थावर-दशक की दस-दस इन सब को मिलाकर अट्ठाइस प्रकृतियों के जोड़ देने से सत्ता में ९३ प्रकृतियाँ तथा इन ९३ प्रकृतियों में बन्धन नाम-कर्म के पाँच भेद ग्रहण किए गए हैं। किन्तु विस्तार से बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद होते हैं। अतः पाँच के स्थान पर पन्द्रह भेदों को जोड़ने पर नामकर्म की सत्ता में एकसौ तीन प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

लेकिन औदारिकादि शरीरों में औदारिकादि रूप बंधन और औदारिकादि रूप संघातन होते हैं। अतः बंधननाम कर्म के पन्द्रह भेद एवं संघातन नामकर्म के पाँच भेद, सब मिलाकर वीस भेदों को शरीर नामकर्म के औदारिकादि पाँच भेदों में शामिल करने और वर्ण गंध, रस, स्पर्श नामकर्मों के उत्तरभेदों को सामान्य से मूल भेदों में जोड़ लेने से अर्थात् वर्ण के पांच भेदों को वर्ण में, गंध के दो भेदों को गंध में, रस के पाँच भेदों को रस में और स्पर्श के आठ भेदों को स्पर्श में गर्भित कर देने से वर्णादि के चार भेद माने जाते हैं। अतः वर्णादि सोलह तथा बंधन, संघातन की वीस प्रकृतियों (कुल मिलाकर छत्तीस प्रकृतियों) को नामकर्म की पूर्वोक्त १०३ प्रकृतियों में से घटा देने पर आपेक्षिक दृष्टि से नामकर्म की ६७ प्रकृतियां मानी जाती हैं।

वंध, उदय और उदीरणा योग्य आठों कर्मों की प्रकृतियों की गणना करते समय नामकर्म की इन सडसठ प्रकृतियों को ग्रहण करते हैं।

नामकर्म की तरह दूसरे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की वंध, उदय आदि की अपेक्षा प्रकृतियों की संख्या और कारण इस प्रकार है—

कर्म की वंध अधिकारिणी प्रकृतियाँ १२०, उदय अधिकारिणी प्रकृतियां १२२, और सत्ता अधिकारिणी १५८ प्रकृतियाँ हैं।

वंध-अधिकारिणी १२० प्रकृतियाँ हैं—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। ये सब मिलाकर १२० प्रकृतियाँ होती हैं।

मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं। परन्तु बंध २६ का होने का कारण पहले वताया जा चुका है कि आत्मा मूल में मिथ्यात्वमोहनीय का वंध करती है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय का वंध नहीं होता है। क्योंकि जीव द्वारा जो मिथ्यात्व मोहनीय का वंध किया जाता है, उसके कुछ पुद्गलों को अपने सम्यक्त्व गुण के कारण शुद्ध बना लेता है और कुछ पुद्गलों को अर्द्ध शुद्ध। इनमें से शुद्ध पुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों को मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व) मोहनीय कहते हैं। मूल रूप से वंधयोग्य प्रकृति मिथ्यात्व मोहनीय है। अतएव सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय इन दो प्रकृतियों को मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में से कम करने पर २६ प्रकृतियां वंधयोग्य होती हैं और १२० प्रकृतियां वंध-अधिकारिणी मानी जाती हैं।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्मप्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। ये सब मिलाकर १२२ प्रकृतियाँ होती हैं।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्म प्रकृतियां हैं। क्योंकि बंधयोग्य कर्मप्रकृतियों में मोहनीय कर्म की सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय ये दो प्रकृतियां घटा दी गई थीं। उनको मिला देने से १२२ प्रकृतियां उदय और उदीरणा की अधिकारिणी होती हैं।

सत्ता की अधिकारिणी १५८ अथवा १४८ कर्म प्रकृतियाँ हैं। सत्ता का अर्थ विद्यमान रहना है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के सामान्यतया १५८ भेद होते हैं और उन सबकी विद्यमानता बतलाने के लिए १५८ प्रकृतियां सत्ता की अधिकारिणी मानी जाती हैं।

सत्ता अधिकारिणी १५८ कर्म प्रकृतियों की संख्या यह है—ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयु की ४, नामकर्म की १०३, गोत्र की २ और अन्तराय की ५। इन सबका जोड़ १५८ होता है। अपेक्षाभेद से १४८ प्रकृतियां भी सत्ता में मानते हैं।

अपेक्षाभेद से सत्ताधिकारिणी १४८ प्रकृतियों के कहने का कारण यह है कि यदि बंधन नामकर्म के १५ भेदों के बजाय ५ भेद ही ग्रहण किये जायं तो १५८ में से बंधन के १० भेद कम कर देने पर १४८ प्रकृतियां सत्तायोग्य मानी जायेंगी।

इस प्रकार नामकर्म की पिंड प्रकृतियों की संख्या और बंधादि में प्रकृतियों की संख्या का कथन करने के बाद आगे ३३ से ५१ तक की गाथाओं में नामकर्म की पिंड प्रकृतियों के भेदों के नाम, लक्षण तथा प्रत्येक प्रकृतियों के लक्षण कहते हैं।

गति नामकर्म के भेदों का कथन करने के पश्चात् जाति नामकर्म के पाँच भेदों के नाम और लक्षण कहते हैं।

(१) एकेन्द्रिय जातिनाम, (२) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (३) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (४) चतुरिन्द्रिय जातिनाम और (५) पंचेन्द्रिय जाति नाम। ये जाति नामकर्म के पाँच भेद हैं।

इन्द्रियां पांच हैं। जिनके नाम क्रमशः— (१) स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर), (२) रसनेन्द्रिय (जीभ), (३) घ्राणेन्द्रिय (नाक), (४) चक्षुरिन्द्रिय (आंख) और (५) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) हैं। इन पांच इन्द्रियों में से स्पर्शनेन्द्रिय पहली और श्रोत्रेन्द्रिय पांचवी इन्द्रिय है। समस्त संसारी जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय तो होती है और उसके अनन्तर क्रमशः रसनेन्द्रिय आदि एक-एक इन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय तक की वृद्धि से एके-न्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जातिनामकर्म के पांच भेद होते हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय—स्पर्शन (शरीर) इन्द्रिय प्राप्त हो, उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रियां—शरीर और जीभ प्राप्त हों, उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को तीन इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ और नाक प्राप्त हों, उसे त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को चार इन्द्रियां—शरीर, जीभ, नाक और आंख प्राप्त हों, उसे चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव के पांचों इन्द्रियां—शरीर, जीभ, नाक, आँख और कान प्राप्त हों, उसे पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं।

जाति नामकर्म का कथन करने के पश्चात् शरीर नामकर्म का वर्णन करते हैं। शरीर नामकर्म के पांच भेद हैं—(१) औदारिक शरीर नामकर्म, (२) वैक्रिय शरीर नामकर्म, (३) आहारक शरीर-नामकर्म' (४) तैजस शरीर नामकर्म और (५) कार्मण शरीर नाम कर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर प्राप्त हो, उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से वना तथा हाड़, मांस, रक्त आदि जिसमें हों, वह औदारिक शरीर कहलाता है।

तीर्थंकरों व गणधरों का शरीर प्रधान पुद्गलों से और सर्व-साधारण का शरीर स्थूल असार पुद्गलों से वनता है। यह औदारिक शरीर सभी मनुष्यों, तिर्यंचों को होता है, चाहे वे गर्भ जन्म वाले हों या समूर्च्छम जन्म वाले हों।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर प्राप्त हो, वह वैक्रिय शरीर नामकर्म कहलाता है। जिस शरीर से छोटे-बड़े, एक-अनेक, विविध, विचित्र रूप वनाने की शक्ति प्राप्त हो, उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार के हैं—औपपातिक, लब्धिप्रत्यय। देव और नारकों का वैक्रिय शरीर औपपातिक कहलाता है। अर्थात् उनको उन गतियों में जन्म लेने से वैक्रिय शरीर मिलता है। लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर मनुष्य और तिर्यंचों को होता है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच तप आदि के द्वारा प्राप्त शक्ति विशेष से वैक्रिय शरीर धार लेते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव को आहारक शरीर प्राप्त वह आहारक शरीर नामकर्म है। अन्य क्षेत्र (महाविदेह) में वर्त तीर्थंकरों की ऋद्धि-दर्शन, संशय-निवारण करने आदि कारणे चौदह पूर्वधारी मुनिराज लब्धिविशेष से जो शरीर धारण कर उसे आहारक शरीर कहते हैं। यह शरीर अति विशुद्ध, स्फटिक निर्मल, शुभ, व्याघात रहित, अर्थात् न तो स्वयं दूसरे से रुकता और न दूसरों को रोकने वाला होता है। यह शरीर मनुष्यों को प्राप्त होता है। उनमें भी सबको नहीं, लेकिन चौदह पूर्वधारी मु राजों को प्राप्त होता है। अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दश पूर्वध मुनि को किसी विषय में सन्देह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न तब औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असंभव समझकर अप विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा एक हस्त प्रमाण शरीर बनाते हैं। शुभ पुद्गलजन्य होने से शुभ, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने कारण निरवद्य और अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अव्याघाती हो है। ऐसे शरीर से अन्य क्षेत्र में स्थित सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उन संदेह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। यह का सिर्फ अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर प्राप्त हो, उ तैजस शरीर नामकर्म कहते है। तैजस पुद्गलों से बना हुआ, आह को पचानेवाला और तेजोलेश्या का साधक शरीर तैजस शरीर क लाता है। तेजोलेश्या की तरह शीतलेश्या का हेतु भी यही तैज शरीर होता है। कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वा दूसरों को नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न होकर शीतल लेश्या द्वारा लाभ, यह तैजस शरीर के प्रभाव से ही समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म से जीव को कार्मण शरीर की प्राप्ति हो, वह कार्मण शरीर नामकर्म है। ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर कार्मणशरीर कहलाता है। इसी शरीर के कारण जीव नरकादि गति रूप संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाता रहता है।

तैजस और कार्मण शरीर सब संसारी जीवों के होते हैं और आत्मा के साथ उनका अनादि सम्बन्ध है। ये दोनों शरीर लोक में कहीं भी प्रतिघात नहीं पाते हैं, अर्थात् वज्र-जैसी कठोर वस्तु भी इन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती है। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश पा सकती है; जैसे—लोह-पिण्ड में अग्नि।

एक साथ एक संसारी जीव में कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं। पाँच कभी नहीं होते हैं। जब दो होते हैं, तब तैजस और कार्मण, क्योंकि ये दोनों सभी संसारी जीवों के होते हैं। यह स्थिति विग्रहगति में पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरी गति के शरीर को प्राप्त करने के लिए होने वाली गति के अन्तराल में पाई जाती है। क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नहीं होता है। जब तीन होते हैं, तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य-तिर्यंचों में और दूसरा प्रकार देव-नारकों में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस कार्मण, औदारिक और आहारक।[1] पहला विकल्प वैक्रिय

---

१. (क) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽचतुर्भ्यः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, सूत्र ४३

(ख) प्रज्ञापना, पद २१

लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनियों में होना संभव है। किन्तु वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव न होने से पाँचों शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते हैं।

इस प्रकार नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में से गति, जाति और शरीर नामकर्म के भेदों को कहने के अनन्तर क्रम-प्राप्त अंगोपांग नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं।

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

गाथार्थ—दो हाथ, दो पैर, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट ये आठ अंग हैं। अंगुली आदि अंग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयव उपांग हैं और शेष अंगोपांग कहलाते हैं। ये अंगादि तीनों औदारिकादि प्रथम तीन शरीरों में ही होते है।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में से अंगोपांग नामकर्म के भेदों को गाथा में कहा है। अंगोपांग शब्द से अंग, उपांग और अंगोपांग इन तीन का ग्रहण होता है। इनमें से अंग के क्रमशः आठ भेद हैं—(१—२) दो हाथ, (३—४) दो पैर, (५) एक पीठ, (६) एक सिर, (७) एक छाती और (८) एक पेट। अंगों के साथ संलग्न अंगुली नाक, कान आदि छोटे-छोटे अवयवों को उपांग और अंगुलियों की रेखाओं तथा पर्वों आदि को अंगोपांग कहते हैं।

अंगादि के लिए किसी-न-किसी आकृति की आवश्यकता होती है और आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में पाई जाने से औदा-

रिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों में ही अंगादि होते हैं। लेकिन तैजस, कार्मण शरीरों का कोई संस्थान अर्थात् आकार न होने से अंगादि नहीं होते हैं। अंगोपांग नामकर्म के तीन भेद हैं—औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह औदारिक अंगोपांग नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, उसे आहारक अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

अपने-अपने शरीर-रूप से परिणत पुद्गलों से उन-उनके योग्य अंगोपांग बनते हैं।

अब आगे की गाथा में बंधन नामकर्म के भेदों को कहते हैं।

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबन्धं।
जं कुणइ जउसमं तं[1] उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

गाथार्थ—जो कर्म लाख के समान बँधे हुए और बंधने वाले औदारिकादि शरीरों के पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध कराता है—परस्पर मिलाता है, उस कर्म को औदारिक आदि बंधन नामकर्म जानो।

१. बंधणमुरलाई तणुनामाः—इति पाठान्तरम्।

लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनियों में होना संभव है। किन्तु वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव न होने से पाँचों शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते हैं।

इस प्रकार नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में से गति, जाति और शरीर नामकर्म के भेदों को कहने के अनन्तर क्रम-प्राप्त अंगोपांग नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं।

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

गाथार्थ—दो हाथ, दो पैर, एक पीठ, एक सिर, एक छाती और एक पेट ये आठ अंग हैं। अंगुली आदि अंग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयव उपांग हैं और शेष अंगोपांग कहलाते हैं। ये अंगादि तीनों औदारिकादि प्रथम तीन शरीरों में ही होते है।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों में से अंगोपांग नामकर्म के भेदों को गाथा में कहा है। अंगोपांग शब्द से अंग, उपांग और अंगोपांग इन तीन का ग्रहण होता है। इनमें से अंग के क्रमशः आठ भेद हैं—(१—२) दो हाथ, (३—४) दो पैर, (५) एक पीठ, (६) एक सिर, (७) एक छाती और (८) एक पेट। अंगों के साथ संलग्न अंगुली नाक, कान आदि छोटे-छोटे अवयवों को उपांग और अंगुलियों को रेखाओं तथा पर्वों आदि को अंगोपांग कहते हैं।

अंगादि के लिए किसी-न-किसी आकृति की आवश्यकता होती है और आकृति औदारिक आदि प्रथम तीन शरीरों में पाई जाने से औदा-

रिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों में ही अंगादि होते हैं। लेकिन तैजस, कार्मण शरीरों का कोई संस्थान अर्थात् आकार न होने से अंगादि नहीं होते हैं। अंगोपांग नामकर्म के तीन भेद हैं—औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह औदारिक अंगोपांग नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, वह वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं, उसे आहारक अंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

अपने-अपने शरीर-रूप से परिणत पुद्गलों से उन-उनके योग्य अंगोपांग बनते हैं।

अब आगे की गाथा में बंधन नामकर्म के भेदों को कहते हैं।

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबन्धं।
जं कुणइ जउसमं तं[1] उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

गाथार्थ—जो कर्म लाख के समान बँधे हुए और बंधने वाले औदारिकादि शरीरों के पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध कराता है—परस्पर मिलाता है, उस कर्म को औदारिक आदि बंधन नामकर्म जानो।

---

१. बंधणमुरलाई तणुनामाः—इति पाठान्तरम्।

विशेषार्थ—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं, उसी प्रकार बंधन नामकर्म शरीर नामकर्म के बल से पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण हो रहे औदारिक आदि शरीरों के पुद्गलों को बाँध देता है–जोड़ देता है। यदि बंधन नामकर्म न हो तो शरीराकार परिणत पुद्गलों में वैसी ही अस्थिरता होजाती है, जैसी हवा में उडते सत्तू के कणों में होती है।

बन्धन दो प्रकार का होता है—सर्वबन्ध, देशबन्ध। नवीन पैदा होने वाले शरीरों के प्रारम्भ काल में सर्वबन्ध होता है और बाद में वे शरीर जब तक धारण किये हुए रहते हैं, देशबन्ध होता है। अर्थात् जो शरीर नवीन उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु उनमें जब तक वे रहते हैं, देशबन्ध ही हुआ करता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में उत्पत्ति के समय सर्वबन्ध और बाद में देशबन्ध होता है। किन्तु तैजस और कार्मण शरीर संसारी जीवों के सदैव रहते हैं, उनकी उत्पत्ति नवीन नहीं होती है अतः उनमें देशबन्ध होता है।

बन्धन नामकर्म के पाँच भेद होते हैं—

(१) औदारिक शरीर-बन्धननाम, (२) वैक्रिय शरीर-बन्धन, नाम, (३) आहारक शरीर-बन्धननाम, (४) तैजस शरीर-बन्धन, नाम। (५) कार्मण शरीर-बन्धननाम। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत-पहले ग्रहण किये हुए औदारिक शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण—वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह औदारिक शरीर-बन्धन नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रिय शरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह वैक्रिय शरीर-बन्धन नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण आहारक शरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह आहारक शरीर-बन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस शरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह तैजस शरीर बन्धन नामकर्म हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण शरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो, वह कार्मण शरीर-बन्धन नामकर्म है।

अपेक्षा भेद से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद भी कहे गये हैं, उनके नाम और बनने के कारण का कथन गाथा ३७ में किया जा रहा है।

अब आगे की गाथा में संघातन नामकर्म के भेदों को बतलाते हैं।

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

गाथार्थ—दंताली द्वारा जैसे तृणसमूह एकत्रित होता है, वैसे ही जो कर्म औदारिकादि शरीर पुद्गलों को एकत्रित करता है, उसे संघातन नामकर्म कहते हैं। इसके भी बंधन नामकर्म की तरह औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम की अपेक्षा से पाँच भेद होते हैं।

विशेषार्थ—संघातन का अर्थ सामीप्य होना, सान्निध्य होन
पूर्वगृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलों का परस्पर बंधन तभी
है, जब गृहीत एवं गृह्यमण पुद्गलों का पारस्परिक सामीप्य
अर्थात् दोनों एक दूसरे के निकट होंगे, तभी बंधन होना सम्भव
अतः शरीर के योग्य पुद्गलों को सन्निहित करना, एक दूसरे के
व्यवस्थित रूप से स्थापन करना, जिससे उन पुद्गलों का परस्प
प्रदेशों के अनुप्रवेश से एकरूपता प्राप्त हो सके, यह संघातन नाम
का कार्य है।

जैसे दंताली से इधर-उधर बिखरी घास इकट्ठी की जात
जिससे उस घास का गट्ठा बँध जाता है, उसी प्रकार संघातन न
कर्म शरीर योग्य पुद्गलों को सन्निहित करता है और बंधन न
कर्म के द्वारा वे सम्बद्ध होते हैं। अर्थात् शरीर योग्य पुद्गलों
संघातन नामकर्म समीप लाता है और उसके बाद बंधन नाम
उन्हें उन-उन शरीरों से सम्बद्ध करता है।

औदारिक आदि पाँच शरीरों के नाम के आधार से बंधन न
कर्म के पाँच भेद हैं, वैसे ही संघातन नामकर्म के भी निम्नलि
पाँच भेद होते हैं—

(१) औदारिक संघातन नामकर्म, (२) वैक्रिय संघातन नामक
(३) आहारक संघातन नामकर्म, (४) तैजस संघातन नामकर्म अ
(५) कार्मण संघातन नामकर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं-

(१) जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परि
पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह औदारिक संघातन नाम है।

(२) जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप में परिणत पुद्ग

(३) जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह आहारक संघातन नाम है।

(४) जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह तैजस संघातन नाम है।

(५) जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो, वह कार्मण संघातन नाम है।

पहले बंधन नामकर्म के पाँच भेद बतलाते समय यह कहा गया था कि बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद भी होते हैं। बंधन नामकर्म के उक्त पन्द्रह भेद कैसे बनते हैं और उनके क्या नाम हैं, यह आगे की गाथा में बतलाते हैं।

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्तणा।
नव बंधणाणिइयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

गाथार्थ—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों का अपने नामवाले और तैजस व कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध जोड़ने से बंधन नामकर्म के नौ भेद तथा तैजस-कार्मण को संयुक्त रूप से उनके साथ जोड़ने से और तीन भेद तथा तैजस व कार्मण को अपने नाम वाले व अन्य से संयोग करने पर तीन भेद होते हैं। इन कुल भेदों को मिलाने से बंधन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—मूल रूप में वन्धन नामकर्म के पाँच भेदों के नाम पैंतीसवीं गाथा में वतलाये जा चुके हैं। लेकिन अपेक्षा दृष्टि से वनने वाले वन्धन नाम कर्म के पन्द्रह भेदों के नाम और उनके वनने की विधि इस गाथा में वतलाई गई है कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन

तीन शरीरों का अपने-अपने नाम वाले शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से तीन भंग बनते हैं। जैसे औदारिक-औदारिक आदि तथा उक्त औदारिक, वैक्रिय, आहारक का तैजस शरीर के साथ संयोग करने से और तीन भंग हो जाते हैं; जैसे—औदारिक-तैजस आदि। इसी प्रकार उक्त औदारिक आदि तीनों शरीर में से प्रत्येक का कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ संयोग करने से औदारिक-कार्मण आदि तीन भंग बनते हैं।

इस प्रकार औदारिक आदि तीन शरीरों में से प्रत्येक मूल शरीर का स्वकीय मूल शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से बनने वाले तीन भंगों, औदारिक आदि तीन शरीरों में से प्रत्येक का तैजस शरीर-पुद्गलों के साथ संयोग होने से बनने वाले तीन भंगों तथा औदारिक आदि तीन शरीरों में से प्रत्येक का कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ संयोग होने से बनने वाले तीन भंगों को जोड़ने से नौ भेद बनते हैं।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों में से प्रत्येक का तैजस-कार्मण शरीर पुद्गलों के साथ युगपत् संयोग करने से तीन भेद बनते हैं, जैसे औदारिक-तैजस-कार्मण आदि तथा तैजस, कार्मण में से प्रत्येक का स्वकीय और अन्य शरीर के पुद्गलों के साथ संयोग करने से और तीन भंग बनते हैं। जैसे तैजस-तैजस बन्धन, तैजस-कार्मण-बन्धन, कार्मण-कार्मण बंधन।

इस प्रकार पूर्वोक्त नौ, तीन और तीन इन कुल भंगों को जोड़ने से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेद हो जाते हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं (१) औदारिक-औदारिक बन्धन नाम, (२) औदारिक-तैजस बन्धन नाम, (३) औदारिक-कार्मण बन्धन नाम, (४) वैक्रिय-

वैक्रिय बन्धन नाम, (५) वैक्रिय-तैजस बन्धन नाम, (६) वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम, (७) आहारक-आहारक बन्धन नाम, (८) आहारक-तैजस बन्धन नाम, (९) आहारक-कार्मण बन्धन नाम, (१०) औदारिक-तैजस-कार्मण बन्धन नाम, (११) वैक्रिय-तैजस कार्मण बन्धन नाम, (१२) आहारक-तैजस कार्मण बन्धन नाम, (१३) तैजस-तैजस बन्धन नाम, (१४) तैजस-कार्मण बन्धन नाम और (१५) कार्मण-कार्मण बन्धन नाम।[1] इनका अर्थ यह है कि—

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक शरीर पुद्‌गलों के साथ गृह्यमाण औदारिक पुद्‌गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक बन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्‌गलों का तैजस पुद्‌गलों के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-तैजस बन्धन नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्‌गलों का कार्मण पुद्‌गलों के साथ सम्बन्ध हो, वह औदारिक-कार्मण बन्धन नामकर्म है।

---

१. प्रकारान्तर से बन्धन नामकर्म के पन्द्रह भेदों को गिनने की सरल रीति।

मूल शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-औदारिक, वैक्रिय-वैक्रिय, आहारक-आहारक, तैजस-तैजस, कार्मण-कार्मण।

तैजस शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-तैजस, वैक्रिय-तैजस, आहारक-तैजस।

कार्मण शरीर के साथ संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-कार्मण, वैक्रिय-कार्मण, आहारक-कार्मण, तैजस-कार्मण।

तैजस-कार्मण शरीर का युगपत संयोग करने से बनने वाले भंग—

औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-तैजस-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण।

[पूरा नाम कहने के लिए प्रत्येक के साथ बन्धन नामकर्म जोड़ दें।

इसी प्रकार वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन नामकर्म आदि अन्य सभी का अर्थ समझ लेना चाहिए।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरों के पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता है, अर्थात् औदारिक के साथ औदारिक शरीर के पुद्गलों का ही सम्वन्ध हो सकता है; वैक्रिय, आहारक शरीर के पुद्गलों का नहीं। इसी प्रकार वैक्रिय, आहारक शरीरों के लिए भी समझ लेना चाहिए। चूँकि ये परस्पर विरुद्ध गुणधर्मी हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध कराने वाले नामकर्म भी नहीं है।

बंधन व संघातन नामकर्म के भेदों का कथन करने के वाद अब आगे की गाथा में संहनन नामकर्म के भेदों का कथन करते हैं।

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥
कीलिअ छेवट्ठं इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं।
उभओ मक्कडबंधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

गाथार्थ—हड्डियों की रचना-विशेष को संहनन कहते हैं। इसके वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और सेवार्त ये छह भेद हैं। इनमें ऋषभ का अर्थ पट्ट-वेष्टन, वज्र का अर्थ कील और नाराच का अर्थ दोनों ओर मरकटवंध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—नामकर्म की पिंडप्रकृतियों के वर्णन में क्रमप्राप्त संहनन नामकर्म के भेदों का इन दो गाथाओं में कथन किया गया है।

जिस नामकर्म के उदय के हाड़ों का आपस में जुड़ जाना, अर्थात् रचना-विशेष होता है। उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियाँ नहीं होती हैं। अतः संहनन नामकर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। संहनन नामकर्म के छह भेद और उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) वज्रऋषभ नाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच,
(४) अर्द्धनाराच, (५) कीलिका, (६) छेवट्ठ।

प्रत्येक के साथ संहनन नामकर्म जोड़ लेना चाहिए।

(१) वज्र, ऋषभ और नाराच—इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न वज्रऋषभनाराच पद है। इनमें वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ वेष्टन—पट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबंध है। जिस संहनन में दोनों तरफ से मर्कट बंध से बंधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेठन (पट्ट) हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्रऋषभनाराच कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की ऐसी रचना-विशेष हो, उसे वज्रऋषभनाराच-संहनन नामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना-विशेष में दोनों तरफ हड्डी का मर्कटबंध हो, तीसरी हड्डी का वेठन भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाली हड्डी की कीली न हो, उसे ऋषभनाराच-संहनन नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कटबंध हो, लेकिन वेठन और कील न हो, उसे नाराच-संहनन नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक ओर मर्कट बंध और दूसरी ओर कील हो उसे अर्धनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबंध और वेठन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुड़ी हों, उसे कीलिका-संहनन नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कटबंध, वेठन और कील न होकर यों ही हड्डियां आपस में जुड़ी हों, उसे छेवट्ट-संहनन नामकर्म कहते हैं। छेवट्ट को सेवार्त अथवा छेदवृत्त भी कहते हैं।

इस प्रकार संहनन नामकर्म के भेदों का कथन करके आगे की गाथा में संस्थान और वर्ण नामकर्म के भेदोंका वर्णन करते हैं।

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

गाथार्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्ड— ये संस्थान नामकर्म के और कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र पीत एवं श्वेत—ये वर्ण नामकर्म के भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में संस्थान और वर्णनाम कर्म के भेदों के नाम कहे गये हैं। उनमें से पहले संस्थान नामकर्म और वाद में वर्णनाम-कर्म के भेदों का निरूपण करते हैं।

शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति हो, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। मनुष्यादि में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियों में विविधताएँ दिखती हैं, उनका कारण संस्थान नामकर्म है। संस्थान नामकर्म के छह भेद हैं, जिनके नाम क्रमशः ये हैं—

(१) समचतुरस्र-संस्थान नामकर्म, (२) न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान नामकर्म, (३) सादि-संस्थान नामकर्म, (४) कुब्ज-संस्थान नामकर्म,

१. संहनन एवं संस्थान के चित्र परिशिष्ट में देखिए।

(५) वामन-संस्थान नामकर्म, और (६) हुंड-संस्थान नामकर्म। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) सम, चतु; अस्र, इन तीन शब्दों से निष्पन्न 'समचतुरस्र पद में सम का अर्थ समान, चतुः का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। अर्थात् पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों; यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर दाहिने कंधे और बायें जानु का अन्तर, बायें कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों, वह समचतुरस्र-संस्थान नामकर्म कहलाता है।

(२) जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो, अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण—मोटे हों और नाभि से नीचे के अवयव हीन—पतले हों, उसे न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव हीन-पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण-मोटे हों—वह सादि-संस्थान नामकर्म है। न्यग्रोध-परिमण्डल-संस्थान से विपरीत शरीर-अवयवों की आकृति इस संस्थान वालों की होती है।

(४) जिस कर्म के उदय से शरीर कुबड़ा हो, वह कुब्ज-संस्थान नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से शरीर वामन (बौना) हो, उसे वामन-संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल हों—यथायोग्य प्रमाण युक्त न हों, उसे हुण्ड-संस्थान नामकर्म कहते हैं।

संस्थान नामकर्म के भेदों का निरूपण करने के वाद वर्ण नामकर्म के भेद और लक्षण बतलाते हैं। वर्ण नामकर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि वर्ण होते हैं। वर्ण नामकर्म के पाँच भेद इस प्रकार हैं।

(१) कृष्ण, (२) नील, (३) लोहित, (४) हारिद्र, और (५) सित। इनके लक्षण यह हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले-जैसा काला हो, वह कृष्णवर्ण नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख-जैसा हरा हो, वह नीलवर्ण नामकर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्दूर जैसा लाल हो, वह लोहितवर्ण नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी-जैसा पीला हो, वह हरिद्रवर्ण नामकर्म है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख-जैसा सफेद हो, उसे सितवर्ण नाम कर्म कहते हैं।

इस प्रकार संस्थान और वर्ण नामकर्म के भेदों का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा में गंध, रस और स्पर्श नामकर्म के भेदों को वतलाते हैं।

सुरहिदुरही रसा पंण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

गाथार्थ—सुरभि-सुगंध और दुरभि-दुर्गन्ध ये दो गंध नाम, कर्म के भेद हैं। तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर ये रस नामकर्म के पाँच भेद हैं तथा स्पर्श नामकर्म के गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये आठ भेद हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में वर्णचतुष्क में से वर्ण नामकर्म के पांच भेदों का कथन किया गया है। शेष रहे गंध, रस, स्पर्श नामकर्म के भेद और उनके लक्षण क्रमशः यहाँ कहते हैं।

गंध नामकर्म के दो भेद हैं—(१) सुरभि गंध, (२) दुरभि गंध नामकर्म।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों-जैसी सुगंधि हो, उसे सुरभि गंध नामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में लहसुन, सड़े-गले पदार्थों-जैसी गंध हो, वह दुरभि गन्ध नामकर्म है।

तीर्थंकर आदि के शरीर सुगंधित होते हैं।

रस नामकर्म के पाँच भेद और उनके लक्षण इस प्रकार हैं—(१) तिक्तरस, (२) कटुरस, (३) कषायरस, (४) अम्लरस, (५) मधुररस।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च-जैसा चरपरा हो, उसे तिक्तरस नामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस चिरायता, नीम जैसा कटु हो, उसे कटुरस नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आँवला, बहेड़ा जैसा कसैला हो, वह कषायरस नामकर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर नीबू, इमली जैसे खट्टे पदार्थों जैसा हो, वह अम्लरस नामकर्म कहा जाता है।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस मिश्री आदि मीठे पदार्थों-जैसा हो, उसे मधुरस नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श नामकर्म के आठ भेद और उनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) गुरु, (२) लघु, (३) मदु, (४) खर, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) स्निग्ध और (८) रुक्ष। प्रत्येक के साथ स्पर्श नामकर्म जोड़ लेना चाहिए।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो, वह गुरुस्पर्श नामकर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई-जैसा हल्का हो, वह लघुस्पर्श नाम कर्म है।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन-जैसा कोमल हो, वह मृदुस्पर्श नाम कर्म है।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ-जैसा खुरदरा, कर्कश हो, वह खरस्पर्श नामकर्म है। इसे कर्कशस्पर्श नाम-कर्म भी कहते हैं।

(५) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वर्फ जैसा ठंडा हो, वह शीतस्पर्श नामकर्म है।

(६) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग जैसा उष्ण हो, वह उष्णस्पर्श नामकर्म है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो, वह स्निग्धस्पर्श नामकर्म है।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वालू-जैसा रूखा हो, वह रूक्ष स्पर्श नामकर्म है।

इस प्रकार वर्ण चतुष्क के वीस भेदों का वर्णन करने के वाद आगे की गाथा में इनमें से कौन शुभ और कौन अशुभ हैं, उनके नाम वतलाते हैं।

नीलं कसिणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

गाथार्थ—वर्णचतुष्क की पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों में से नील, कृष्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु, गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत ये नौ प्रकृतियां अशुभ हैं और शेष रही ग्यारह प्रकृतियां शुभ हैं।

विशेषार्थ—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नामकर्म के पहले क्रमशः पांच, दो, पांच और आठ—कुल बीस भेद बतलाये गये हैं। उनमें से कितनी शुभ और कितनी अशुभ प्रकृतियां हैं, यह गाथा में स्पष्ट किया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

अशुभ वर्ण नामकर्म—कृष्णवर्ण, नीलवर्ण।

अशुभ गंध नामकर्म—दुरभिगंध (दुर्गन्ध)।

अशुभ रस नामकर्म—तिक्तरस, कटुरस।

अशुभ स्पर्श नामकर्म—गुरु स्पर्श, खर-कर्कश स्पर्श, रूक्षस्पर्श, शीतस्पर्श।

उक्त दो वर्ण, एक गंध, दो रस और चार स्पर्श के नाम मिलाने से वर्णचतुष्क की नौ अशुभ प्रकृतियां समझनी चाहिए।

वर्णचतुष्क की उक्त नौ अशुभ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही ग्यारह शुभ प्रकृतियों की संख्या और नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

शुभ वर्ण नामकर्म—सितवर्ण, पीतवर्ण, लोहितवर्ण।

शुभगंध नामकर्म—सुरभिगंध (सुगंध)।

शुभ रस नामकर्म—कषायरस, आम्लरस, मधुररस।

शुभस्पर्श नामकर्म—लघुस्पर्श, मृदुस्पर्श, स्निग्धस्पर्श, उष्णस्पर्श।

इस प्रकार तीन वर्ण, एक गंध, तीन रस, और चार स्पर्श भेदों को मिलाने से वर्णचतुष्क के ग्यारह भेद शुभ प्रकृतियां माने जाते हैं।

अब आगे की गाथा में आनुपूर्वी नामकर्म के भेद, नरकद्विक आदि संज्ञाएं और विहायोगति नामकर्म के भेदों को कहते हैं।

चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुय ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ।।४

गाथार्थ——गति नामकर्म के चार भेदों के समान आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद होते हैं और आनुपूर्वी नामकर्म का उदय विग्रहगति में होता है। गति और आनुपूर्वी को मिलाने से गतिद्विक और इस द्विक में आयु को जोड़ने से गतित्रिक संज्ञाएं बनती हैं। बैल और ऊंट की चाल की तरह शुभ और अशुभ के भेद से विहायोगति नामकर्म के दो भेद हैं।

विशेषार्थ——नामकर्म की पिंड प्रकृतियों में से शेष रही आनुपू और विहायोगति प्रकृतियों के भेदों और आनुपूर्वी नामकर्म के भे से बनने वाली नरकद्विक आदि संज्ञाओं का कथन गाथा में कि गया है।

आनुपूर्वी नामकर्म के भेद और स्वरूप आदि का वर्णन क्रम इस प्रकार है——

गति नामकर्म के चार भेदों की तरह आनुपूर्वीनामकर्म के चार भेद हैं——

(१) देवानुपूर्वी, (२) मनुष्यानुपूर्वी,
(३) तिर्यंचानुपूर्वी और (४) नरकानुपूर्वी।

जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गमन कर उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

गति करने की शक्ति जीव और पुद्गल में है। अतः निमित्त मिलने पर ये दोनों गतिक्रिया में परिणत होकर गति करने लगते हैं। किन्तु यहाँ मुख्यतया जीव की गति के बारे में विचार किया जा रहा है।

जीव की स्वाभाविक गति श्रेणी के अनुसार होती है। आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव की यह गति दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर जाते समय जीव को किसी प्रकार का नवीन प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है, तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है और उसी के वेग से दूसरे प्रयत्न के बिना धनुष से छूटे बाण के समान सीधा अपने नवीन स्थान पर पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र—घुमाव वाली होती है। इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है। क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही कार्य करता है, जहाँ से जीव को घूमना पड़े। इन दोनों प्रकार की गतियों में मुक्त जीव की गति ऋजु गति ही होती है और संसारी जीव की ऋजु और वक्र—दोनों प्रकार की गति होती है।

एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने, अर्थात् इस भव-सम्बन्धी शरीर को छोड़कर भवान्तर सम्बन्धी शरीर को धारण करने के लिए जब संसारी जीव की गति होती है, यानी विग्रहगति में रहा हुआ जीव गति करता है तो आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गति करता हुआ उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है। इसमें आनु-

पूर्वी नामकर्म कारण है। जो समश्रेणी से अपने उत्पत्ति स्थान के प्रति जाने वाले संसारी जीव को उसके विश्रेणी पतित उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा देता है। यदि जीव का उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हो तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता है। वक्रगति में आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है, ऋजुगति में नहीं होता है।

इसी संदर्भ में प्रयोग में आने वाली गतिद्विक, गतित्रिक आदि संज्ञाओं के संकेत का अर्थ यह है कि जहाँ गतिद्विक ऐसा संकेत हो, वहाँ गति और आनुपूर्वी नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ लेना चाहिए और जहाँ गतित्रिक संकेत हो, वहाँ गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीन प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिए। सामान्य से ये संज्ञाएँ कही गई हैं। विशेष से संज्ञाओं को इस प्रकार समझना चाहिए, जैसे—'नरकद्विक' में नरकगति और नरकानुपूर्वी का ग्रहण होगा। यदि नरकत्रिक संज्ञा का संकेत हो तो उसमें नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु का ग्रहण होगा। इसी प्रकार तिर्यंचद्विक, तिर्यंचत्रिक, मनुष्यद्विक, मनुष्यत्रिक, देवद्विक, देवत्रिक संज्ञाओं के लिए समझ लेना चाहिए। अपने-अपने नामवाली गति, आनुपूर्वी और आयु को ग्रहण करने से द्विक, और आयु को ग्रहण करने पर त्रिक संज्ञाएँ बनती हैं।

विहायोगति नामकर्म के भेद और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) शुभविहायोगति, (२) अशुभविहायोगति।

जिस कर्म के उदय से जीव का चाल हाथी, बैल की चाल की तरह शुभ हो, वह शुभविहायोगति नामकर्म है।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट, गधे आदि की चाल की तरह अशुभ हो, वह अशुभविहायोगति नामकर्म है।

इस प्रकार नामकर्म की पिण्ड प्रकृतियों का वर्णन करने के वाद आगे की गाथाओं में प्रत्येक प्रकृतियों का वर्णन करते हैं।

परघाउदया पाणी परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

गाथार्थ—पराघात नामक कर्म के उदय से जीव दूसरे वलवानों के लिए अजेय होता है और उच्छ्वास नामकर्म के उदय से उच्छ्वास लब्धियुक्त होता है।

विशेषार्थ—नामकर्म की चौदह पिंडप्रकृतियों का कथन करने के वाद प्रत्येक प्रकृतियों का वर्णन करते हैं। उनमें से पराघात और उच्छ्वास प्रकृतियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

जिस कर्म के उदय से जीव वड़े-वड़े वलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो, वह पराघात नामकर्म है। अर्थात् पराघात नामकर्म का उदय होने पर जीव कमजोरों का तो कहना ही क्या, वड़े-वड़े वलवानों बुद्धिमानों, विद्वानों और विरोधियों की दृष्टि में भी अजेय दिखता है, उसके प्रभाव से वे पराभूत हो जाते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धियुक्त होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं। शरीर से वाहर की हवा को नाक द्वारा अन्दर खींचना श्वास है और शरीर के अन्दर की हवा को नाक द्वारा वाहर छोड़ना उच्छ्वास कहलाता है। इन दोनों कार्यों को करने की शक्ति उच्छ्वास नामकर्म से जीव को प्राप्त होती है।

इस प्रकार पराघात और उच्छ्वास नामकर्म के लक्षण वतलाने के वाद आगे की दो गाथाओं में आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण कहते हैं।

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥
अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

गाथार्थ—आतप नामकर्म के उदय से जीवों का अंग तापयुक्त होता है। इसका उदय सूर्यमण्डल के पार्थिव शरीरों में होता है, किन्तु अग्निकाय के जीवों को नहीं होता है। उनके तो उष्णस्पर्श और लोहितवर्ण नामकर्म का उदय होता है। साधु और देवों के उत्तर वैक्रिय शरीर, एवं चन्द्र, तारा आदि जोतिष्कों और जुगनू के प्रकाश की तरह उद्योत नामकर्म के उदय से जीवों का शरीर अनुष्ण—शीत—प्रकाशरूप उद्योत करता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आतप और उद्योत नामकर्म के लक्षण तथा वे किन जीवों के होते हैं तथा आतप उष्ण स्पर्श नामकर्म में क्या अन्तर है, स्पष्ट करते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं।

जिसके आतप नामकर्म का उदय होता है, वह स्वयं तो उष्णता रहित होता है, परन्तु प्रकाश, प्रभा, उष्णता सहित होती है। इस आतप नामकर्म का उदय सूर्यविम्व के वाहर पृथ्वीकाय के जीवों के होता है। इन जीवों के सिवाय सूर्य मण्डल के अन्य जीवों के आतप नामकर्म का उदय नहीं होता है।

अब आगे की गाथा में अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्म के लक्षण कहते हैं ।

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ।।४७।।

गाथार्थ—अगुरुलघु कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो भारी और न हल्का होता है । तीर्थंकर नामकर्म के उदय से जीव त्रिभुवन का भी पूज्य होता है । इसका उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात होता है ।

विशेषार्थ—अगुरुलघु और तीर्थंकर नामकर्मों का स्वरूप गाथा में समझाया गया है ।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्का और भारी न होकर अगुरुलघु परिणाम वाला होता है, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं ।

अगुरुलघु नामकर्म के कारण ही जीव को स्वयं अपना शरीर भारी मालूम नहीं पड़ता है कि उसे संभालना कठिन हो जाए और न इतना हल्का ही प्रतीत होता है कि आक की रुई के समान हवा में उड़ने से भी नहीं बचाया जा सके । अर्थात् जीव को स्वयं का शरीर वजन में भारी या हल्का प्रतीत न होकर अगुरुलघु नामकर्म के उदय से अगुरुलघु परिणाम वाला प्रतीत होता है ।

जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है, उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं ।

तीर्थंकर नामकर्म का उदय केवलज्ञान उत्पन्न होने पर होता है । इस कर्म के कारण ही वह त्रैलोक्य पूज्य और उसे समवसरण रूप वाह्य वैभव प्राप्त होता है । यह वैभव सभी केवलज्ञानियों को प्राप्त

नहीं होता, किन्तु उन्हें मिलता है, जिन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया हो। तीर्थंकर पद में विराजमान केवलज्ञानी अधिकारयुक्त वाणी में उस मार्ग को दिखाते हैं, जिसका आचरण कर स्वयं ने इस कृत-कृत्य दशा को प्राप्त किया है। धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं, जिसको श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी रूप चतुर्विध संघ भी कहते हैं।

संसार के बड़े-से-बड़े शक्तिशाली देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि तक उनकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं और उनकी वाणी को सुनने का अवसर प्राप्त करने के लिए अपना अहोभाग्य मानते हैं।

अब आगे की गाथा में निर्माण और उपघात नामकर्म का स्वरूप कहते हैं।

अङ्गोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयबलं बिगाईहिं ॥४८॥

गाथार्थ—निर्माण नामकर्म सूत्रधार के समान शरीर के अंगों और उपांगों का यथायोग्य प्रदेशों में व्यवस्थापन करता है। उपघात नामकर्म के कारण जीव अपने शरीर के अवयव भूत लंबिका यानी छठी अंगुली आदि से क्लेश पाता है।

विशेषार्थ—जिस कर्म के उदय से शरीर में अंग-उपांग अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं, उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं।

निर्माण का अर्थ है व्यवस्थित रूप से रचना होना जैसे चित्रकार या शिल्पी चित्र या मूर्ति में हाथ-पैर आदि अवयवों को यथास्थान चित्रित करता या बनाता है, वैसे ही निर्माण नामकर्म शरीर के अवयवों का नियमन करता है। यदि यह कर्म न हो तो अंग [illegible] के उदय से बने हुए अंग-उपांगों—हाथ, पैर, आँख, [illegible]

यथास्थान नियमन नहीं हो सकता है। अर्थात् निर्माण नामकर्म शारीरिक अवयवों का उन-उन के स्थान पर होने का नियमन करता है और इसके कारण वे अंग-उपांग आदि अपने-अपने स्थान पर व्यवस्थित रीति से स्थापित होते है।

जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवों—प्रतिजिह्वा (पड़जीव), चौरदंत (ओठ के बाहर निकले हुए दाँत), लंबिका (छठी उंगली) आदि से क्लेश पाता है, उसे उपघात नामकर्म कहते हैं।

शरीर में अंग और उपांगों के यथायोग्य स्थान पर व्यवस्थित होने पर भी किसी-किसी जीव के शरीर में अवयवभूत अंग उपांग-ऐसे दिखते हैं, जो उपयोगी कार्य में सहकारी न होकर जीव को क्लेशोत्पादक बन जाते हैं। इनका क्लेशोत्पादक बनने का कारण उपघात नामकर्म है।

इस प्रकार निर्माण और उपघात नाम कर्मों का स्वरूप कथन करने के पश्चात आगे की गाथा में त्रस, बादर और पर्याप्त नामकर्मों का स्वरूप कहते हैं।

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४९॥

गाथार्थ—त्रस नामकर्म के उदय से जीव दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रिय वाले, बादर नामकर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् स्थूल और पर्याप्त नामकर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों सहित होते हैं। पर्याप्त जीव लब्धि और करण के भेद से दो प्रकार के हैं।

विशेषार्थ—गाथा में त्रसदशक की प्रकृतियों में से क्रमशः त्रस, वादर और पर्याप्त प्रकृतियों का स्वरूप समझाया है।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

त्रस जीवों के चार भेद हैं—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पंचेन्द्रिय। त्रस जीव गर्मी-सर्दी से अपना वचाव करने के लिए एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जाने में समर्थ होते हैं।

यद्यपि तेजस्काय और वायुकाय के जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय है, लेकिन उनमें त्रस की-सी गति होने के कारण गति-सादृश्य देखकर उन्हें त्रस कहा जाता है। अर्थात् त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धि-त्रस और गतित्रस। त्रस नामकर्म के उदय वाले द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव लब्धित्रस हैं और मुख्य रूप से ये ही त्रस कहलाते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के स्थावर नामकर्म का उदय होता है और वे स्थावर ही हैं। लेकिन त्रस जीवों के समान गतिशील होने से तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव गतित्रस कहलाते हैं। ये उपचार से त्रस कहे जाते हैं।

उक्त द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों में से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय त्रस मनरहित होते हैं और पंचेन्द्रियों में से कई प्राणी मनसहित और कई मनरहित होते हैं। किन्तु तेजस्कायिक और वायुकायिक त्रस तो मनरहित ही होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव को वादर (स्थूल) काय की प्राप्ति हो, उसे वादर नामकर्म कहते हैं।

'जिसे आंख देख सके', यह वादर का अर्थ नहीं है, व [illegible] ए, वादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आँखों से नहीं देखा [illegible]

किन्तु बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे बादर पृथ्वीकाय आदि जीवों के शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट करता है, जिससे वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

बादर नामकर्म जीवविपाकिनी प्रकृति है। यह प्रकृति शरीर के पुद्‌गलों के माध्यम से जीव में बादर परिणाम को उत्पन्न करती है, जिससे वे दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय रूप में भी एकत्रित हो जायें तो भी वे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

बादर नामकर्म को जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्‌गलों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति का कारण यह है कि जीव-विपाकिनी प्रकृति का शरीर में प्रभाव दिखलाना विरुद्ध नहीं है। जैसे क्रोध के जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्रेक—भौंह का टेढ़ा होना, आँखों का लाल होना, ओठों की फड़फड़ाहट इत्यादि परिणामों द्वारा प्रकट रूप में दिखलाई देता है। सारांश यह है कि कर्म-शक्ति विचित्र है, इसलिए बादर नामकर्म पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रकट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है।

जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं, जिसके द्वारा पुद्‌गलों को ग्रहण करने तथा उनका आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है। अर्थात् पुद्‌गलों के उपचय से जीव की पुद्‌गलों को ग्रहण करने तथा परिणमाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

पर्याप्ति के छह भेद हैं—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषा-पर्याप्ति, (६) मनपर्याप्ति।

उक्त छह पर्याप्तियों में अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीव के चार (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के उक्त आहार आदि चार पर्याप्तियों के साथ भाषा-पर्याप्ति के मिलाने से पाँच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के आहारादि मन पर्यन्त छहों पर्याप्तियां होती हैं।

इहभव सम्बन्धी शरीर का परित्याग करने के बाद परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिए जीव उत्पत्ति स्थान में पहुँचकर कार्मण शरीर के द्वारा जिन पुद्गलों को प्रथम समय में ग्रहण करता है, उनके आहार पर्याप्ति आदि रूप छह विभाग होते हैं और उनके द्वारा एक साथ छहों पर्याप्तियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् प्रथम समय में ग्रहण किये हुए पुद्गलों के छह भागों में से एक-एक भाग लेकर प्रत्येक पर्याप्ति का बनना प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। अर्थात् आहार के बाद शरीर, शरीर के बाद इन्द्रिय आदि। इस प्रकार मनपर्याप्त पर्याप्त क्रम समझना चाहिए।

जैसे छह कातने वाली स्त्रियों ने एक साथ रुई कातना प्रारम्भ किया, किन्तु उनमें से मोटा सूत कातने वाली जल्दी पूरा कर लेती है और बारीक कातने वाली देर से पूरा करती है। इसी प्रकार पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, किन्तु पूर्णता अनुक्रम से होती है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीन शरीरों में पर्याप्तियां होती हैं। उनमें इनकी पूर्णता का क्रम निम्न प्रकार समझना चाहिए

औदारिक शरीर वाला जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और इसके बाद अन्तमुहूर्त में दूसरी, इसके बाद तीसरी। इस प्रकार चौथी, पाँचवीं और छठी प्रत्येक क्रमशः अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त के वाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय में पूरी कर लेते हैं और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते हैं और उसके वाद तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी पर्याप्ति अनुक्रम से एक-एक समय में पूरी करते हैं। किन्तु देव पाँचवीं और छठी इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

आहार आदि छहों पर्याप्तियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) जिस शक्ति से जीव बाह्य आहार पुद्गलों को ग्रहण करके खलभाग, रसभाग में परिणमावे ऐसी शक्ति-विशेष की पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

(२) जिस शक्ति से जीव रस के रूप में वदल दिये गए आहार को सात धातुओं के रूप में परिणमाता है, उसकी पूर्णता को शरीर पर्याप्ति कहते हैं।

शरीर में विद्यमान सात धातुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— (१) रस, (२), रक्त, (२) मांस, (४) भेद (चर्वी), (५) हड्डी (६) मज्जा और (७) वीर्य। इन सात धातुओं में से एक के बाद दूसरी, दूसरी से तीसरी धातु वीर्य-पर्यन्त वनती है। इन सात धातुओं के अलावा शरीर में निम्नलिखित सात उपधातुएँ होती हैं—

(१) वात, (२) पित्त, (३) श्लेष्म (कफ), (४) शिरा, (५) स्नायु, (६) चर्म और (७) जठराग्नि।

(३) जिस शक्ति से आत्मा धातुओं के रूप में परिणत आहार को स्पर्श आदि इन्द्रिय रूप परिणमावे। उसकी पूर्णता को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं।

(४) जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप परिणत करके और उसका सार ग्रहण करके उन्हें वापस छोड़ता है, उस शक्ति की पूर्णता को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(५) जिस शक्ति से जीव भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषारूप परिणमावे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़े, उसकी पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति-विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े, उसकी पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते है।

आहारपर्याप्ति और शरीरपर्याप्ति में जो आहार पर्याप्ति के द्वारा रस वनने के वाद भी शरीरपर्याप्ति द्वारा रस वनने वाले रस की शुरूआत का कथन है, उसका आशय यह है कि आहार पर्याप्ति द्वारा रस वनने की अपेक्षा शरीर पर्याप्ति द्वारा वना हुआ रस भिन्न प्रकार का होता है और यही रस शरीर को वनाने में उपयोगी होता है।

आहार, शरीर और इन्द्रियों को वनाने में जो पुद्गल उपयोगी हैं, उनकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति के पुद्गल भिन्न प्रकार के होते हैं।

पर्याप्तजीवों के दो भेद होते हैं—(१) लब्धिपर्याप्त और (२) करणपर्याप्त।

(१) जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते है, पहले नहीं, वे लब्धि-पर्याप्त हैं।

(२) करणपर्याप्त के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवों ने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण करली है, वे करणपर्याप्त हैं। चूँकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो सकती है, इसलिए तीनों पर्याप्तियाँ ली गई हैं, अथवा जिन जीवों ने अपनी योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लीं हैं, वे करण-पर्याप्त कहलाते हैं।

लब्धि-पर्याप्त और करण-पर्याप्त से विपरीत लक्षण वाले जीव क्रमशः लब्धि-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त कहलाते हैं। इनके स्वरूप का कथन आगे स्थावर दशक की प्रकृतियों में बतलाते हैं।

अब आगे की गाथा में प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग नामकर्म के स्वरूप को बतलाते हैं।

पत्तेय तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं॥
नामुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

गाथार्थ—प्रत्येक नामकर्म के उदय से जीवों के पृथक्-पृथक् शरीर होते हैं। स्थिर नामकर्म के कारण जीवों के शरीर में दाँत, हड्डियां आदि स्थिर होती हैं। नाभि से ऊपर के शरीर अवयव शुभ हों, वह शुभ नामकर्म है और जिसके उदय से जीव सभी लोगों को प्रिय लगता है, वह सुभग नामकर्म है।

विशेषार्थ—नामकर्म की प्रत्येक प्रकृति में से, प्रत्येक, स्थिर, शुभ और सुभग इन चार प्रकृतियों के लक्षण गाथा में कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव के दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर (अपने-अपने स्थान पर रहें) हों उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हों, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

(४) जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार न करने पर भी और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

अब आगे की गाथा में शेष रही सुस्वर, आदेय, और यशःकीर्ति नामकर्म की प्रकृतियों व स्थावर दशक की प्रकृतियों का कथन करते हैं।

सुसरा मुहरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

गाथार्थ—सुस्वर नामकर्म के उदय से मधुर और सुस्वर ध्वनि होती है। आदेय नामकर्म के उदय से सब लोग वचन का आदर करते हैं। यशःकीर्ति नामकर्म के उदय से यश और कीर्ति होती है और पूर्व में कही गई त्रसदशक की प्रकृतियों से विपरीत स्थावर दशक की प्रकृतियों का अर्थ समझना चाहिए।

विशेषार्थ—त्रसदशक की सात प्रकृतियों के स्वरूप पहले में कहे जा चुके हैं और शेष रही तीन प्रकृतियों—सुस्वर,

यशःकीर्ति के लक्षण तथा स्थावर दशक की दस प्रकृतियों के लक्षण समझने के लिए त्रसदशक की दस प्रकृतियों से विपरीत समझने का संकेत इस गाथा में किया गया है। विशेष विवेचन क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है—

(१) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता को प्रिय लगता है, उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं; जैसे—कोयल आदि का स्वर।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यश और कीर्ति फैले, उसे यशः कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

यशःकीर्ति यह पद यश और कीर्ति दो शब्दों से निष्पन्न है। उसमें किसी एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और सब दिशाओं में प्रशंसा हो, उसे यश कहते हैं अथवा दान, तप आदि से जो नाम होता है, उसे कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्त करने से जो नाम होता है उसे यश कहते हैं। इस सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है—

दान-पुण्यकृता कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः।
एक दिग्गामिनी कीर्तिः सर्वदिग्गामकं यशः॥

अब स्थावर दशक की दस प्रकृतियों का स्वरूप कहते हैं। स्थावर दशक की दश प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दुर्भग, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय और (१०) अयशः कीर्ति।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहें—सर्दी-गर्मी से वचने का प्रयत्न करने की शक्ति न हों, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पति काय ये स्थावर जीव हैं। इनके सिर्फ प्रथम अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय होती है।

तेजस्काय और वायुकाय जीवों के स्वाभाविक गति है, तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गर्मी से वचने की विशिष्ट गति उनमें न होने से उन्हें स्थावर कहते हैं। उन्हें स्थावर नामकर्म का उदय है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर,(जो स्वयं न किसी को रोके और न किसी से रुके) प्राप्त हो, उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

इस नामकर्म वाले जीव भी पूर्वोक्त पांच स्थावर ही होते हैं। वे समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं और आँख से नहीं देखे जा सकते हैं।

(३) जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं। अपर्याप्त जीवों के दो भेद हैं—लब्ध्य-पर्याप्त और करणापर्याप्त। जो जीव अपनी पर्याप्ति पूर्ण किये विना ही मरते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं और जो जीव अभी अपर्याप्त हैं, किन्तु आगे की पर्याप्तियां पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करणापर्याप्त कहते हैं।

लब्ध्यपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं। क्योंकि आगामी भव की आयु का वंध कर ही सब जीव मरा करते हैं और आयु का वंध उन्हीं जीवों को होता है, जिन्होंने आहार शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करली हैं!

(४) जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही [illegible] अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी वनें, उसे स[illegible] कर्म कहते हैं।

इन साधारण शरीर धारी अनन्त जीवों के जीवन, मरण, आहार श्वासोच्छ्वास आदि परस्पराश्रित होतें हैं। इसीलिए वे साधारण कहलाते हैं। अर्थात् साधारण जीवों को आहारादिक पर्याप्त और उनके कार्य सदृश और समान काल में होते हैं।

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीवों में से वनस्पतिकायिक जीव प्रत्येक और साधारण—दोनों प्रकार के नामकर्म वाले होते हैं। उनकी पहचान के कुछ उपाय ये हैं—

जिनकी शिरा, संधि, पर्व अप्रकट हों, मूल, कन्द, त्वचा, नवीन कोपल, टहनी, पत्र-फूल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हों और कन्द, मूल, टहनी या स्कन्ध की छाल मोटी हो, उसको साधारण और उसके विपरीत को प्रत्येक वनस्पति समझना चाहिए।

(५) जिस कर्म के उदय से कान, भौंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं, उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(६) जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव अशुभ हों, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं। पैर से स्पर्श होने पर अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व का लक्षण है।

(७) जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करने पर भी सभी को अप्रिय लगता है, दूसरे जीव शत्रुता एवं वैरभाव रखें, वह दुर्भग नामकर्म हैं।

(८) जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर व वचन श्रोता को अप्रिय व कर्कश प्रतीत हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

(९) जिस कर्म के उदय से जीव का युक्ति-युक्त अच्छा वचन भी अनादरणीय, अग्राह्य समझा जाता है, वह अनादेय नामकर्म है।

(१) जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है, वह उच्च गोत्र कर्म है।

(२) जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है, वह उच्चकुल है; जैसे—इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, चन्द्रवंश इत्यादि। अधर्म और अनीति करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि व अकीर्ति प्राप्त की हो, वह नीचकुल है; जैसे—मद्य-विक्रेता कुल, वधक (कसाई)—कुल और चौर कुल इत्यादि।[1]

उच्च गोत्र के जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, और रूप की विशिष्टता से आठ भेद होते हैं और आठों की हीनता से नीच गोत्र के भी आठ भेद समझने चाहिए; जैसे—जाति-हीनता कुल-हीनता आदि।

उक्त जाति आदि आठ विशेषताओं का मद (अहंकार) न करने से उच्चगोत्र का और मद करने से नीच गोत्र का बंध होता है।

गोत्रकर्म कुम्भकार के सदृश है। जैसे, कुम्हार (कुंभकार) छोटे-बड़े विविध प्रकार के घड़े बनाता है। उनमें से कुछ घड़े कलश रूप

(ग) गोयं कम्मं तु दुविहं उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं पि आहियं॥
—उत्तराध्ययन २३।१४

१. उच्चैर्गोत्रं देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्पनिवर्तकम्।
विपरीतं नीचैर्गोत्रं चण्डालमुष्टिक व्याधमत्स्यवंधदास्यादिनिवर्तकम्॥
—तत्त्वार्थसूत्र ८।१३ भाष्य

(२) दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल हो; फिर भी जिस कर्म के उदय से उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभान्तराय कहते हैं।

(३) भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नहीं कर सकता, उसे भोगान्तराय कहते हैं।

(४) उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे उपभोगान्तराय कहते हैं।

जो पदार्थ एक बार भोगे जाएं, उन्हें भोग कहते हैं। जैसे—भोजनादि। जो पदार्थ बार-बार भोगे जाएँ, उन्हें उपभोग कहते हैं; जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

(५) वीर्य याने पराक्रम। जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और नीरोग होते हुए भी कार्यविशेष में पराक्रम न कर सके; शक्ति सामर्थ्य का उपयोग न कर सके, उसे वीर्यान्तराय कहते हैं।

वीर्यान्तराय के—बाल वीर्यान्तराय, पंडित वीर्यान्तराय, बाल-पंडित वीर्यान्तराय ये तीन भेद हैं। सांसारिक कार्यों को करने की सामर्थ्य होने पर भी जीव जिसके उदय से उनको न कर सके, वह **बाल वीर्यान्तराय** है। सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखते हैं, किन्तु जिसके उदय से तदर्थ क्रियाओं को न कर सकें, वह **पंडित वीर्यान्तराय** है और देशविरति को चाहता हुआ भी जीव जिसके उदय से उसका पालन न कर सके, वह **बाल पंडित-वीर्यान्तराय** है।

इस प्रकार गोत्र कर्म के स्वभाव, भेद और अन्तराय कर्म के स्वरूप और भेदों को कहने के अनन्तर आगे की गाथा में अन्तराय कर्म का दृष्टान्त कहते हैं।

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवो वि ॥५३॥

गाथार्थ—अन्तराय कर्म श्रीगृही—भण्डारी के समान है। जैसे भण्डारी के प्रतिकूल होने पर राजा दानादि नहीं कर पाते हैं, उसी प्रकार अन्तराय कर्म के कारण जीव भी दानादि करने की इच्छा रखते हुए भी दानादि नहीं कर पाता है।

विशेषार्थ—यहाँ दृष्टान्त द्वारा अन्तराय कर्म के स्वभाव को समझाया है। अन्तराय कर्म का स्वभाव भण्डारी के समान है कि भण्डारी के प्रतिकूल होने पर जैसे राजा किसी याचक को दान देना चाहता है और दान देने की आज्ञा भी देता है। परन्तु भण्डारी इसमें बाधा उत्पन्न कर राजा की दान देने की इच्छा को सफल नहीं होने देता है। इसी प्रकार अन्तराय कर्म के लिए समझना चाहिए कि वह जीव रूपी राजा को दान, लाभ, भोग आदि की इच्छापूर्ति में रुकावट उत्पन्न करता है।

अन्तराय कर्म का उदय देने वाले की इच्छाओं में रुकावट डालने के समान ही लेने वाले के लिए भी प्राप्त होने योग्य वस्तु को प्राप्त होने देने में विघ्न बाधा उपस्थित कर देता है जिससे वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के भेद-प्रभेदों का कथन करने के अनन्तर आगे की गाथाओं में ज्ञानावरण आदि कर्मों के बंध के विशेष कारणों को कहते हैं। सर्वप्रथम ज्ञानावरण, दर्शनावरण के कारणों को बतलाते हैं।

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ॥५४॥

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन के बारे में प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निह्नव—अपलाप, उपघात, प्रद्वेष, अन्तराय और आसातन करने से जीव ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का उपार्जन करता है ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्मबंध के मुख्य हेतु हैं। उनका यथास्थान विस्तृत स्पष्टीकरण किया गया है। यहां आठ कर्मों के पृथक्-पृथक् साधारण हेतुओं को कहते हैं। यहाँ गाथा में ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बंध के साधारण हेतुओं का कथन किया गया है, जो इस प्रकार है—

प्रत्यनीकत्व—अनिष्ट आचरण, निह्नव-अपलाप, छिपाना, उत्सूत्र प्ररूपणा करना, उपघात-विनाश, प्रद्वेष, द्वेष, अरुचि-ईर्ष्या, अन्तराय-विघ्न, आसातना—निन्दा, अवर्णवाद—ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के बंध के कारण है। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रतिकूल, आचरण करना प्रत्यनीकत्व कहलाता है।

(२) मान वश ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना, अमुक के पास पढ़ कर भी मैंने इनसे नहीं पढ़ा अथवा अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नहीं जानता—उत्सूत्र प्ररूपणा करना, इस प्रकार के अपलाप को—निह्नव कहते हैं।

(३) ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों—पुस्तक, पाठशाला आदि का शस्त्र, अग्नि आदि से नाश कर देना उपघात है।

(४) ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों पर प्रेम न रखकर द्वेष रखना अरुचि रखना प्रद्वेष है।

(५) ज्ञानाभ्यास के साधनों में रुकावट डालना, विद्यार्थियों को विद्या, भोजन, वस्त्र, स्थान आदि लाभ होता हो तो उसे न होने देना, विद्याभ्यास छुड़ाकर उनसे अन्य काम करवाना अन्तराय कहलाता है।

(६) ज्ञानियों की निन्दा करना, उनके बारे में झूठी-झूठी बातें कहना या मर्मच्छेदी बातें लोक में फैलाना, उन्हें मानसिक पीड़ा हो, ऐसा कपट-जाल फैलाना आशातना है।

पूर्वोक्त कार्यों के सिवाय निषिद्ध काल, स्थान आदि में अभ्यास करना, गुरु का विनय न करना, पुस्तकों आदि को पैरों से हटाना, पुस्तकों का सदुपयोग न होने देना आदि तथा इसी प्रकार अन्य कारण व कार्यों के द्वारा ज्ञानादि के प्रति उपेक्षा भाव दर्शानेवाले कार्यों को करने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

ऊपर जो ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के बारे में अनिष्ट आचरण करना आदि कारण बतलाये गये हैं, वैसे ही दर्शन, दर्शनी-साधु, और दर्शन के साधनों के बारे में अनिष्ट आचरण करने से दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है।

ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। इसलिए ज्ञान और ज्ञान के साधनों, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति किंचिन्मात्र भी असावधानी व उपेक्षा दिखाना अपना ही घात करना है। अतः जिन गुणों को प्राप्त करने से आनन्द मिलने वाला है, उन गुणों के अभिव्यक्त होने के लिए जिन कामों को नहीं करना चाहिए, वे यहां बतलाये गये हैं। इसी प्रकार के अन्य विघातक कार्यों का भी इन्हीं में समावेश कर लेना चाहिए।

अब आगे की गाथा में क्रम प्राप्त वेदनीय कर्म के बन्ध के कारणों को कहते हैं।

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

गाथार्थ—गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत, योग, कषाय—विजय, दान करने और धर्म में स्थिर रहने से सातावेदनीय का और इसके विपरीत प्रवृत्ति करने से असातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में वेदनीय कर्म के दोनों भेद सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारणों को बतलाया है।

साता का अर्थ है सुख और असाता का अर्थ है दुःख। जिस कर्म के उदय से सुख हो, वह सातावेदनीय और जिस कर्म के उदय से दुःख हो, वह असातावेदनीय है। सातावेदनीय पुण्य और असातावेदनीय पाप है। अतः सुख को करने वाले और दूसरों को सुख पहुँचाने वाले[1] कार्यों के द्वारा सातावेदनीय और दुख के निमित्त जुटाने से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है। अतः सातावेदनीय और असातावेदनीय के वन्ध होने के कारणों को गाथा में वताया है, जो इस प्रकार है—

गुरु-भक्ति, क्षमाशीलता, दयालुता, व्रतयुक्तता, संयम साधना, कषायविजय, दान, भावना और धार्मिक श्रद्धा की दृढ़ता से सातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है। इसी प्रकार गाथा में जो आदि शब्द है, उससे वृद्ध वाल, ग्लान आदि की सेवा—वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुँचाना, मैत्री, प्रमोद आदि भावना

---

१. समाहि कारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ।
—समाधि पहुँचानेवाला समाधि प्राप्त करता है। —भगवती ७।१

रखना, लोकोपकारी कार्यों को करना इत्यादि का और ग्रहण कर लेना चाहिए। गाथा में आगत शब्दों के अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) गुरुजनों (माता-पिता, धर्माचार्य, विद्या पढ़ाने वाले, शिक्षा गुरु, ज्येष्ठ भाई, बहन आदि) की सेवा, आदर, सत्कार करना गुरु-भक्ति है।

(२) क्षमा करना अर्थात् बदला लेने की शक्ति होते हुए भी अपने साथ बुरा वर्ताव करने वाले के अपराधों को सहन करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध भाव पैदा न होने देना—क्षमा-शीलता है।

(३) प्राणिमात्र पर करुणाभाव रखना, उनके दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करना दयालुता है।

(४) हिंसादि पापों से विरत होना व्रत है। अणुव्रतों या महाव्रतों का पालन करना व्रतयुक्तता है।

(५) योग का पालन करना अर्थात् साध्वाचार का पालन करना। चक्रवाल आदि दस प्रकार की साधु समाचारी को संयम योग कहते हैं।

(६) क्रोधादि कषायों के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हें नहीं होने देना और कषायों पर विजय पाना कषाय-विजय है।

(७) सुपात्र की आवश्यकतानुसार दान देना, साधन जुटाना, दान-युक्तता है। जैसे रोगी को औषध देना, भयभीत को निर्भय बनाना और भय के कारणों को हटाना, विद्यार्थियों को विद्या के साधनों आदि को जुटाना और भूखे को भोजन देना तथा इनसे सम्बन्धित अन्य कार्यों को करना।

(८) आत्मिक गुणों—सम्यक् ज्ञानदर्शन चारित्र में अपने आपको

स्थिर करना तथा इनमें स्थिरता लाने के लिए नीतिमय जीवन, ईमानदारी, वीतराग के वचनों में दृढ़ता रखना धर्म में दृढ़ता रखना है।

यहां सातावेदनीय कर्म के बन्ध के कुछ कारण बतलाये हैं। इनसे विपरीत कार्य करने, भावना रखने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है, जैसे—गुरुजनों का आदर न करना, निरपराधी को दण्ड देना, क्रूर परिणाम रखना, तीव्रकषाय युक्त होना आदि। दुःख, शोक, संताप आदि पैदा करने वाले कार्यों से आत्मा असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है।

इस प्रकार वेदनीय कर्म के दोनों भेदों—सात और असात वेदनीय के साधारण बंधकारणों का कथन करने के बाद आगे मोहनीय कर्म के बंध के कारणों को बतलाते हैं। सबसे पहले दर्शन मोहनीय कर्म के बंध कारणों को कहते हैं।

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ॥५६॥

गाथार्थ—उन्मार्ग का उपदेश देने और सन्मार्ग का अपलाप करने, देवद्रव्य का हरण करने और जिन केवली, मुनि, चैत्य, संघ आदि के विरुद्ध आचरण करने से दर्शन मोहनीय कर्म का बंध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में दर्शन मोहनीय कर्म के बंध हेतुओं में से कुछ एक का संकेत किया गया है, जो इस प्रकार हैं—उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग-नाश, देवद्रव्यहरण, जिन, मुनि, चैत्य, संघ, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि के विरुद्ध प्रवृत्ति-व्यवहार करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है। कारणों की व्याख्या निम्न प्रकार है—

(१) संसार के कारणों और कार्यों का मोक्ष के कारणों के रूप में उपदेश देना उन्मार्ग देशना है, जैसे—देवी देवताओं के सामने

पशुओं की बलि (हिंसा) करने में सुख बतलाना। मिथ्यादर्शन आदि को मोक्ष का साधन कहना आदि। इसी प्रकार से अन्य कारणों को समझना चाहिए।

(२) संसार निवृत्ति और मुक्ति प्राप्ति के मार्ग का अपलाप करना—मार्गनाश है, जैसे—न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है, जो कुछ सुख है, वह इसी जीवन में है। खाओ—पीओ, मौज उड़ाओ। न पुनर्जन्म है। तप करके शरीर सुखाना है। आध्यात्मिक साहित्य पढ़ने में व्यर्थ समय गंवाना है आदि उपदेश देकर भोले जीवों को सन्मार्ग से हटाना।

(३) देव याने ज्ञान-दर्शनादि गुण संयुक्त स्वयं आत्मा और इसी सरीखे अन्य जीव, इनके उपयोगी द्रव्य को देवद्रव्य कहते हैं। प्राणि-रक्षा के उपयोग में आने वाले द्रव्य का हरण करना, अपव्यय करना, व्यवस्था न करना, देवद्रव्य-हरण कहलाता है। लौकिक दृष्टि से देव के लिए अर्पित द्रव्य की चोरी करना, उसे अपने उपयोग में लाना, व्यवस्था करने में प्रमाद करना, दूसरा दुरुपयोग करता हो तो सामर्थ्य होते हुए भी मौन रहना देवद्रव्यहरण कहलाता है। इसीप्रकार ज्ञान-द्रव्य—शास्त्र व उनके भण्डारों आदि धर्मस्थानों के निमित्त द्रव्य का हरण भी समझ लेना चाहिए।

(४) जिन भगवान, निरावरण केवलज्ञानी की निन्दा करना, सर्व दोषों से उन्मुक्त होने पर भी उनमें दोष बताना, जैसे कि 'दुनिया में कोई सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता है।' समवशरण में छत्र, चामर आदि का उपयोग करने से उनको वीतराग न कहना, जिननिन्दा कहलाती है।

(५) पंच महाव्रतधारी रत्नत्रय से विभूषित साधु मुनिराज की निन्दा करना, असद्भूत दोषों का आरोप लगाना साधु निन्-

(६) ज्ञान दर्शन चारित्र सम्पन्न गुणी महात्मा तपस्वी आदि की निन्दा करना चैत्य निन्दा करना कहलाता है और लौकिक दृष्टि से स्मारक, स्तूप, प्रतिमा आदि की निन्दा करना, उन्हें हानि पहुँचाना भी चैत्य निन्दा समझना चाहिए।

(७) साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ की निन्दा करने, गर्हा करने को, संघ निन्दा कहते हैं।

इनके सिवाय गाथा में आये आदि शब्द से आगम, गुरुजनों, धर्म आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। उनके प्रतिकूल आचरण करने, निन्दा करने, अवर्णवाद फैलाने से भी दर्शन मोहनीय कर्म का बंध होता है।

दर्शन मोहनीय कर्म के बंध कारणों को बतलाकर अब आगे की गाथा में चारित्र मोहनीय और नरकायु कर्म के बंध कारणों को कहते हैं।

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसयविवसमणो।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥

गाथार्थ—क्रोधादि कषायों और हास्यादि नोकषायों तथा विषयों में अनुरक्त जीव दोनों प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म का बंध करते हैं तथा बहु आरम्भी, बहुपरिग्रही और रौद्र परिणाम वाला जीव नरक-आयु का बंध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्र मोहनीय कर्म के कषाय और नो कषाय, मोहनीय तथा आयु कर्म के चार भेदों में से नरकायु के बंध कारणों को बतलाया है। पहले चारित्र मोहनीय के दोनों प्रकारों के बंध कारणों को बतलाते हैं।

चारित्र मोहनीयकर्म कषाय और नोकषायमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। इनमें कषाय मोहनीय के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ से लेकर संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ पर्यन्त सोलह भेद तथा नोकषाय मोहनीय के हास्य से लेकर नपुंसक वेद पर्यन्त नौ भेद पहले कहे जा चुके हैं। उनका कषाय के उदय से होने वाले जीव के तीव्र परिणामों से वंध होता है और पृथक्-पृथक् कषायों के वंध के वारे में इस प्रकार समझना चाहिए।

(१) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से व्याकुल मन वाले जीव अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों के सोलह भेदों का बंध करते हैं।

(२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय से पराधीन हुआ जीव अप्रत्यारख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि वारह कषायों को वांधता है।

(३) प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि के उदय से ग्रस्त जीव प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन क्रोधादि आठ कषायों को वांधता है।

(४) संज्वलन क्रोधादि युक्त जीव सिर्फ संज्वलन क्रोधादि चार कषायों का वंध करता है।

यहां यह समझ लेना चाहिए कि क्रोध, मान, माया, और लोभ— इन चारों कषायों का एक साथ उदय नहीं होता है, किन्तु चारों में से किसी एक का उदय होता है। अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार के कषाय भेदों में से जिस कषाय प्रकार का उदय होगा, उस सहित आगे के प्रकार भी साथ में रहेंगे, किन्तु पूर्व का नहीं रहेगा। जैसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय प्रकार का उदय होने पर उस सहित

ख्यानावरण, संज्वलन प्रकारों का उदय हो सकता है, किन्तु अनन्तानुबंधी कषाय का नहीं होगा। इसीप्रकार प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषाय प्रकार के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

कषायों के बंध के बारे में कथन करने के बाद अब नोकषायों के बंध के बारे में समझाते हैं कि हास्यादि नोकषायों से व्याकुल चित्त-वाला जीव हास्यादि छह नोकषायों को बाँधता है, जैसे कि—

(क) भाँडों-जैसी चेष्टा करने वाला, दूसरों की हँसी उड़ाने वाला, बकवाद करने वाला जीव हास्यमोहनीय कर्म का बंध करता है।

(ख) चित्र-विचित्र दृश्यों को देखने में रुचि रखने, उनके प्रति उत्सुकता दर्शाने आदि की वृत्तियुक्त जीव रति मोहनीयकर्म को बाँधता है।

(ग) ईर्ष्यालु, पापी, दूसरों को दुखी करने वाला, बुरे कर्मों के लिए दूसरों को उत्साहित करने वाला जीव अरति मोहनीय कर्म का बंध करता है।

(घ) स्वयं डरने वाला, दूसरों को भय पैदा करने वाला, त्रास देने वाला, निर्दय जीव भय मोहनीय कर्म को बाँधता है।

(ङ) स्वयं शोकग्रस्त रहने वाला और दूसरों को भी शोक उत्पन्न करने वाला जीव शोक मोहनीय कर्म का बंध करता है।

(च) चतुर्विध संघ की, सदाचार आदि की निन्दा करने वाला, घृणा करने वाला जुगुप्सा मोहनीय कर्म का बंध करता है।

हास्यादि छह नोकषायों के बंध हेतुओं के कथन के बाद स्त्रीवेद आदि वेद मोहनीय कर्मों के बंध कारणों को बतलाते हैं।

(क) ईर्ष्यालु, विषयों में आसक्त, अतिकुटिल, स्त्री लंपट जीव स्त्रीवेद को बाँधता है।

(ख) स्वदार-संतोषी, मंदकषायी, सरल, शीलव्रत युक्त जीव पुरुषवेद का बंध करता है।

(ग) तीव्र विषयाभिलाषी, नैतिकता की मर्यादा भंग करने वाला आदि जीव नपुंसकवेद का बंध करता है।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के बँध हेतुओं का कथन करके आयुकर्म के चार भेदों में से नरकायु के बंध के कारणों को बतलाते हैं।

वहुत आरंभ करने, वहुत परिग्रह रखने, उसके संग्रह की चिन्ता में डूबे रहने, रौद्र परिणामों और पंचेन्द्रिय प्राणियों की हत्या करने, मांस-भक्षण, बार-बार मैथुन सेवन करने, दूसरे के धन का अपहरण करने आदि-आदि कारणों से जीव को नरकायु का बंध होता है।

अब आगे की गाथा में तिर्यचायु और मनुष्यायु के बंध हेतुओं का कथन करते हैं।

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

गाथार्थ—गूढ़ हृदय, शठ, सशल्य तिर्यंचायु का तथा प्रकृति से मंद कपाय वाला, दान में रुचि रखने वाला और मध्यम गुण वाला मनुष्यायु का बंध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में क्रमशः तिर्यचायु और मनुष्यायु के बंध के कारणों को वतलाया है। तिर्यचायु के बंध के कारणों का कथन करते हुए कहा है कि गूढ़हृदय अर्थात् जिसके मन को वात का पता न लग सके, शठ—मीठा बोलने का प्रदर्शन करते हुए भी मन में कपट भाव रखने वाला, सशल्य—अपने दोप, पाप कर्मों को छिपाने के लिए सदैव चौकन्ना रहने वाला और इसमें चतुराई रखने वाला जीव तिर्यचायु का बंध करता है।

लेकिन जो जीव सरल हृदय वाला है, अल्प आरंभी और अल्प परिग्रही है, दान देने में उत्साह रखने वाला है, मंदकषाय वाला होने से जीव मात्र के प्रति दया, क्षमा, मार्दव आदि भाव रखने वाला है, वह मनुष्यायु का बंध करता है।

गाथा में जो 'मज्झिम गुणो' पद आया है, उसका अर्थ यह है कि अधम गुणों से नरकायु का और उत्तम गुणों से देवायु का बंध होता है और जो जीव मध्यम गुण वाला है, वह मनुष्यायु का बंध करता है।

अब आगे की गाथा में देवआयु और नामकर्म की शुभ एवं अशुभ प्रकृतियों के बंध के कारणों को बतलाते हैं।

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि तथा बालतप, अकाम निर्जरा करने वाला जीव देवायु का बंध करता है। सरल परिणाम वाला एवं निरभिमानी जीव शुभ नामकर्म की प्रकृतियों का तथा इसके विपरीत वृत्तिवाला जीव अशुभ नामकर्म की प्रकृतियों का बंध करता है।

विशेषार्थ—गाथा में क्रमशः देवायु और नामकर्म की शुभ और अशुभ प्रकृतियों के बंध कारणों को बतलाया है। उनमें से देवायु के बंधकारण इस प्रकार हैं—

मनुष्य और तिर्यंच ही देवायु के बंध की योग्यता रखते हैं और उनमें भी वही, जो कम-से-कम सम्यग्दृष्टि हैं। अर्थात् व्रत आदि का पालन करने में असमर्थ होते हुए भी जो मनुष्य या तिर्यंच सम्यग्दर्शन

(ख) मधुर, अम्ल आदि रसों से अपना गौरव समझना रसगौरव कहलाता है।

(ग) शरीर के स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि का अभिमान करना सात-गौरव कहलाता है।

इसी प्रकार पाप से डरने वाला; क्षमा, दया, मार्दव आदि गुणों से युक्त जीव शुभ नामकर्म को बांधता है।

जिन कार्यों के उदय से नामकर्म की शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है, उनके विरुद्ध कार्य करने वाला जीव अशुभ प्रकृतियों का बन्ध करता है। जैसे माया, छल-कपट, अपनी प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करना, झूठी साक्षी देना, शपथ लेना, देवद्रव्य, सार्वजनिक संपत्ति आदि का दुरु-पयोग करना, अपहरण करना आदि दुष्ट प्रवृत्तियों से नामकर्म की अशुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है। सारांश यह है कि अनैतिक आचार-विचार से नरकगति, अयश:कीर्ति, एकेन्द्रिय जाति आदि अशुभ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

नामकर्म के अनन्तर क्रम प्राप्त गोत्रकर्म के बन्ध कारणों को आगे की गाथा में कहते हैं।

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

गाथार्थ—गुणों को देखने वाला, निरभिमानी, अध्ययन-अध्या-पन में रुचि रखने वाला और जिन भगवान् का भक्त जीव उच्च गोत्र का तथा इससे विपरीत वृत्ति वाला जीव नीच गोत्र का वन्ध करता है।

विशेषार्थ—गोत्रकर्म के दो भेद हैं—(१) उच्चगोत्र और (२) नीचगोत्र। गाथा में दोनों भेदों के बंध हेतुओं को वतलाया है। उनमें

से उच्चगोत्र के बंध हेतुओं को बतलाते हुए कहा है कि जो जीव गुण-प्रेक्षी हैं, अर्थात् किसी व्यक्ति में दोषों के रहते हुए भी, उनके बारे में उदासीन होकर सिर्फ गुणों को देखने वाले हैं, गुणों के प्रशंसक हैं; जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ऐश्वर्यमद, लाभमद और तपमद—इन आठों प्रकार के मदों से रहित हैं, अर्थात् उक्त बातों का अभिमान नहीं करते हैं। सदैव सत्साहित्य के पढ़ने-पढ़ाने में रुचि रखने वाले हैं और जिनेन्द्र भगवान, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय साधु, माता-पिता और गुणी जनों की भक्ति करने वाले हैं वे उच्चगोत्र कर्म का बन्ध करते हैं।

जिन कृत्यों से उच्चगोत्र का बन्ध होता है, उनसे उल्टे कार्यों को करने से जीव नीचगोत्र कर्म का बन्ध करते हैं। अर्थात् दूसरों के दोषों को देखने से, जाति, कुल आदि का अभिमान करने से पठन-पाठन में अरुचिभाव रखने से और जिनेन्द्र भगवान, तीर्थङ्कर, गुरु माता-पिता आदि महापुरुषों में भक्ति न रखने आदि कारणों से नीच गोत्र का बन्ध होता है।

इस प्रकार गोत्र कर्म के बन्ध कारणों का कथन करने के बाद आगे की गाथा में अन्तराय कर्म के बन्ध हेतुओं का कथन कर ग्रंथ समाप्त करते हैं।

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविंदसूरिहिं ॥६१॥

गाथार्थ—जिन भगवान् की पूजा में विघ्न करने वाले, हि
आदि पापों में तत्पर जीव अन्तराय कर्म का बंध
इस प्रकार श्री देवेन्द्र सूरि ने इस 'कर्म विपाक' ना
की रचना की है।

विशेषार्थ—पहले की गाथाओं में क्रमशः ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के बन्ध हेतुओं का वर्णन किये जाने के पश्चात् इस गाथा के पूर्वार्द्ध में अन्तरायकर्म के बन्ध हेतुओं का और उत्तरार्द्ध में ग्रंथ समाप्ति का संकेत किया गया है।

अन्तराय कर्म का बन्ध उन जीवों को होता है जो जिन भगवान की पूजा में विघ्न डालते हैं, अर्थात् जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद करने से, उनके द्वारा प्ररुपित धर्म की निन्दा करने से, गुणों का संकीर्तन करने में रुकावट डालने से आत्मकल्याण के साधक व्रत, तप, संयम की ओर अग्रसर होने वालों को निरुत्साहित करने से तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्य करने से अन्तराय कर्म का वन्ध होता है। साथ ही हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह रूप पापों को स्वयं करने, दूसरों से कराने और करते देख प्रसन्न होने, अनुमोदना करने से दानादि कार्यों में विघ्न डालने आदि से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

इस प्रकार कर्मों के स्वरूप, भेदों, बन्ध हेतुओं का सामान्य रूप से कथन करने वाला श्री देवेन्द्र सूरि विरचित 'कर्म विपाक' नामक ग्रंथ समाप्त हुआ।

॥इति 'कर्म विपाक' नामक प्रथम कर्मग्रंथ॥

परिशिष्ट

कर्म की मूल एवं उत्तरप्रकृतियों की संख्या तथा नाम

कर्म की मूल प्रकृतियां—८

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अंतराय।

अष्ट कर्मों की उत्तर प्रकृतियां—१५८

(१) ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां—५

(१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्याय ज्ञानावरण, (५) केवल ज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां—९

(१) चक्षुदर्शनावरण, (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधि-दर्शनावरण, (४) केवलदर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रा-निद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।

(३) वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां—२

(१) साता वेदनीय, (२) असातावेदनीय।

(४) मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां—२८

मुख्य भेद—(1) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के प्रभेद—३

(१) सम्यक्त्व मोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय तथा (३) मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय के प्रभेद—२५ (कषाय १६, नोकषाय—९)

कषाय—(४) अनन्तानुबंधी क्रोध, (५) अनन्तानु

(६) अनन्तानुबंधी माया, (७) अनन्तानुबंधी लोभ, (८) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, (९) अप्रत्याख्यानावरण मान, (१०) अप्रत्याख्यानावरण माया, (११) अप्रत्याख्यानावरण लोभ, (१२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, (१३) प्रत्याख्यानावरण मान, (१४) प्रत्याख्यानावरण माया, (१५) प्रत्याख्यानावरण लोभ, (१६) संज्वलन क्रोध, (१७) संज्वलन मान, (१८) संज्वलन माया, (१९) संज्वलन लोभ।

नोकषाय—(२०) हास्य, (२१) रति, (२२) अरति, (२३) शोक, (२४) भय, (२५) जुगुप्सा, (२६) पुरुष वेद, (२७) स्त्रीवेद, (२८) नपुंसक वेद।

(५) आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियां—४

(१) देवायु, (२) मनुष्यायु, (३) तिर्यंचआयु, (४) नरकायु।

(६) नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियां—१०३

गति—(१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३) मनुष्यगति, (४) देवगति।

जाति—(५) एकेन्द्रिय, (६) द्वीन्द्रिय, (७) त्रीन्द्रिय, (८) चतुरिन्द्रिय, (९) पंचेन्द्रिय।

शरीर—(१०) औदारिक शरीर, (११) वैक्रिय शरीर, (१२) आहारक शरीर (१३) तैजस् शरीर, (१४) कार्मण शरीर।

अंगोपांग—(१५) औदारिक अंगोपांग, (१६) वैक्रिय अंगोपांग, (१७) आहारक अंगोपांग।

बंधन—(१८) औदारिक-औदारिक बंधन, (१९) औदारिक-तैजस बंधन, (२०) औदारिक-कार्मण बंधन, (२१) औदारिक-तैजस कार्मण बंधन, (२२) वैक्रिय-वैक्रिय बंधन, (२३) वैक्रिय-तैजस बंधन, (२४) वैक्रिय-कार्मण बंधन, (२५) वैक्रिय-तैजस कार्मण बंधन, (२६) आहा-

प्रत्येक प्रकृतियां—(७६) पराघात, (७७) उच्छ्वास, (७८) आतप (७९) उद्योत, (८०) अगुरुलघु, (८१) तीर्थङ्कर, (८२) निर्माण, (८३) उपघात (८४) त्रस, (८५) बादर, (८६) पर्याप्त, (८७) प्रत्येक, (८८) स्थिर, (८९) शुभ, (९०) सुभग, (९१) सुस्वर (९२) आदेय, (९३) यशःकीर्ति, (९४) स्थावर, (९५) सूक्ष्म, (९६) अपर्याप्त, (९७) साधारण, (९८) अस्थिर, (९९) अशुभ, (१००) दुर्भग, (१०१) दुःस्वर, (१०२) अनादेय, (१०३) अयशः कीर्ति।

(७) **गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियां**—२

(१) उच्चगोत्र, (२) नीचगोत्र।

(८) **अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां**—५

(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय।

नामकर्म की प्रकृतियों की गणना का विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की गणना में नाम-कर्म को छोड़कर जिनकी जितनी संख्या बतलाईहैं उतने ही उन-उन के उत्तर भेदों के नाम निर्दिष्ट हैं। लेकिन नामकर्म के ४२, ६७, ९३ और १०३ उत्तर भेदों की संख्या ग्रंथों में बताई गई है। इनमें अधिक, मध्यम, और अल्प दृष्टिकोण से यह संख्या भिन्नता है। उनकी गणना में क्रम इस प्रकार समझना चाहिए।

४२ भेद १४ पिंड प्रकृतियाँ, १० त्रसदशक, १० स्थावर दशक और ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ नाम ये हैं—

१४ **पिंडप्रकृतियां**—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, विहा-योगति।

१० त्रस दशक—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति ।

१० स्थावर दशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः कीर्ति ।

८ प्रत्येकाष्टक—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरु 'लघु, तीर्थङ्कर, निर्माण, उपघात ।

६७ भेद—(इसमें १० त्रस दशक, १० स्थावर दशक और ८ प्रत्येकाष्टक प्रकृतिय के नाम पूर्वोक्तवत् हैं ।) १४ पिंड प्रकृतियों में से वंधन और संघातन नामकर्म के भेदों को शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया है। शेष रही १२ पिंड प्रकृतियों में से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के भेद न करके शेष ८ प्रकृतियों के भेद ३५ होते हैं। उनको ग्रहण करने से ६७ भेद हो जाते हैं। १२ पिंड प्रकृतियों के ३९ भेद ये हैं—

गति ४—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ।

जाति ५—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

शरीर ५—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण।

अंगोपांग ३—औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग ।

संहनन ६—वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्ध-नाराच, कीलिका, सेवार्त ।

संस्थान ६—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक ।

आनुपूर्वी ४—नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

विहायोगति २—शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति ।

९३ भेद (इसमें १० त्रसदशक, १० स्थावरदशक, ८ प्रत्येक

बंध, उदय-उदीरणा एवं सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या

(१) बंधयोग्य प्रकृतियां—१२०

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २६, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२०

(२) उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियां—१२२

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२

(३) सत्तायोग्य प्रकृतियां १५८ अथवा १४८

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम १०३ अथवा ९३, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२८+४+१०३/९३+२+५=१५८/१४८

प्रकृतियाँ तथा पूर्वोक्त ८ पिंड प्रकृतियों के ३५ भेदों के अतिरिक्त जो बंधन और संघातन नामकर्म को शरीर नाम कर्म में ग्रहण कर लिया था, उन दोनों के होने वाले ५, ५ उत्तर भेदों तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के होने वाले क्रमशः ५, २, ५, ८ उत्तर भेदों को मिलाने से ९३ भेद होते हैं।)—

बंधन ५—औदारिक बंधन, वैक्रिय बंधन, आहारक बंधन, तैजस बंधन, कार्मण बंधन।

संघातन ५—औदारिक संघातन, वैक्रिय संघातन, आहारक संघातन, तैजस् संघातन, कार्मण संघातन।

वर्ण ५—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्ल।

गंध २—सुरभि, दुरभि।

रस ५—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर।

स्पर्श ८—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष।

१०३ भेद—(पूर्वोक्त ९३ भेदों में जो बंधन के ५ भेद ग्रहण किये गये हैं, उनके बजाय निम्नोक्त १५ भेद गिनने पर १०३ भेद नाम कर्म के होते हैं।

बंधन १५—औदारिक, औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक-कार्मण बंधन, औदारिक-तैजस कार्मण बंधन, वैक्रिय-वैक्रिय बंधन, वैक्रिय-तैजस-बंधन, वैक्रिय-कार्मण बंधन, वैक्रिय-तैजस कार्मण बंधन, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बंधन, आहारक-कार्मण बंधन, आहारक-तैजस कार्मण बंधन, तैजस-तैजस बंधन, तैजस-कार्मण बंधन, कार्मण-कार्मण बंधन।

अर्थात् ९३ प्रकृतियों में बंधन के पांच भेद के स्थान पर १५ भेद जोड़ने से १०३ भेद होते हैं।

(९३—५=८८+१५=१०३)

☆

वंध, उदय-उदीरणा एवं सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या

(१) वंधयोग्य प्रकृतियां—१२०

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २६, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२६+४+६७+२+५=१२०

(२) उदय और उदीरणा योग्य प्रकृतियां—१२२

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२

(३) सत्तायोग्य प्रकृतियां १५८ अथवा १४८

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम १०३ अथवा ९३, गोत्र २, अन्तराय ५।

५+९+२+२८+४+१०३/९३+२+५=१५८/१४८

कर्मबन्ध के विशेष कारण-सम्बन्धी आगम पाठ

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के सद्भाव से संसारी जीव सदैव कर्मबन्ध करता रहता है। इसीलिए इन्हें सामान्य से कर्मबन्ध का कारण कहा जाता है। लेकिन इनकी विद्यमानता रहने के साथ ही किन्हीं विशेष कारणों से उस-उस कर्म का विशेप रूप से बंध होता है और उन्हें उस-उस कर्म बंध का विशेष कारण कहते हैं।

ग्रंथ में ग्रंथकार ने विभिन्न कर्मों के बंध-विषयक विशेष कारणों का संकेत किया है। इन कारणों के कथन का आधार आगम हैं। अतः विशेष बंध कारण सम्बन्धी आगमगत पाठों को पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। आगम पाठ निम्न प्रकार हैं—

(१-२) ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय

णाणावरणिज्जकम्मासरीरप्पओगबंधेण भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाणनिण्हवणाए णाणंतराएणं णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेण···
······एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसणनाम घेत्तव्वं।

— व्याख्याप्रज्ञप्ति श० ८ उ० ६, सू० ७५-७६

अर्थ—भगवन् ! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीय कार्मण शरीर का प्रयोगबंध होता है ?

गौतम ! ज्ञानी की शत्रुता करने से, ज्ञान को छिपाने से, ज्ञान में विघ्न डालने से, ज्ञान में दोप निकालने से, ज्ञान का अविनय करने

से, ज्ञान में व्यर्थ का वाद-विवाद करने से ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव होता है। इन उपर्युक्त कार्यों में ज्ञान के स्थान पर दर्शन व दर्शनी (साधु) का नाम जोड़कर कार्य करने से दर्शनावरणीय कर्म का आस्रव होता है।

इस सम्बन्ध में आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में निम्न-लिखित पाठ दिया है—

तत्प्रदोपनिह्नवामात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः

—अ० ६, सू० १०

(३) वेदनीय

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय उनमें से प्रथम असातावेदनीय का वन्धसम्वन्धी पाठ यह है—

परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतिप्पणयाए परपिट्ट-णयाए परपरियावणयाए वहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोय-णयाए जाव परियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अस्सायावेय-णिज्जा कम्मा किज्जन्ते।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० ६, सू० २८६

अर्थ—हे गौतम ! दूसरों को दुःख देने से, दूसरे को शोक उत्पन्न करने से, दूसरे को झुराने से, दूसरे को रुलाने से, दूसरों को पीटने से, दूसरों को परिताप देने से, वहुत से प्राणियों और जीवों को दुःख देने से, शोक उत्पन्न कराने आदि परिताप देने से जीव असातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं।

इस सम्वन्धी तत्त्वार्थसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेदस्य ।

सातावेदनीय सम्बन्धी पाठ

पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए सत्ताणुकंपाए वहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पण-याए अपिट्टणयाए अपरियावणयाए एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति । —भगवती श० ७, उ० ६, सू० २८६

अर्थ—हे गौतम ! प्राणों पर अनुकम्पा करने से, प्राणियों पर दया करने से, जीवों पर दया करने से, सत्त्वों पर दया करने से, वहुत-से प्राणियों को दुःख न देने से, शोक न कराने से, न झुराने से, न सताने से, न पीटने से, परिताप न देने से जीव सातावेदनीय कर्म का आस्रव करते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगःक्षान्ति शौचमितिसद्वेदस्य।
—अ० ६ सू० १२

(४) मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ये दो भेद हैं। उनमें से पहले दर्शनमोहनीय के कारणों को कहते हैं—

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभवोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—अरहंताणं अवन्नं वदमाणे, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे आयरियउवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चउवण्णस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे, विवक्कतववंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

—स्थानांग स्थान ५, उ० २, सू० ४२६

अर्थ—पाँच स्थानों के द्वारा जीव दुर्लभ वोधि (दर्शनमोहनीय) कर्म का उपार्जन करते हैं—अर्हन्त का अवर्णवाद करने से, अर्हन्त के

उपदेश दिये हुए धर्म का अवर्णवाद करने से, आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से, चारों प्रकार के धर्म का अवर्णवाद करने से तथा परिपक्व तप और ब्रह्मचर्य के धारक देवों का अवर्णवाद[1] करने से।

तत्त्वार्थसूत्रगत पाठ

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। — अ० ६, सू० १३

चारित्रमोहनीय कर्मबन्ध सम्बन्धी पाठ

मोहणिज्जकम्मासरीरप्पयोग पुच्छा, गोयमा! तिव्वकोहयाए तिव्वमाणयाए तिव्वमायाए तिव्वलोभाए तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्वचारित्तमोहणिज्जाए।

—व्या० प्र० श० ८, उ० ६, सू० ३५१

अर्थ—(चारित्र) मोहनीय कर्म के शरीर का प्रयोग बंध किस प्रकार होता है? गौतम! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्रमोहनीय से।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्बन्धित पाठ

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। —अ० ६, सू० १४

(५) आयुकर्म

आयु कर्म के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं। इनके प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अपने-अपने बंध के कारण है। इनमें से नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयु बन्ध के कारणों के पाठों का संकेत कर सामान्यतः सभी आयुओं के बंध के कारण का पाठ उद्धृत करते हैं।

से, असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तकों से, संयतासंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यात वर्ष की आयु वालों में से उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! तीनों में से ही अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

सरागसंयमसंयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।

सम्यक्त्वं च। —अ० ६ सू० २०-२१

साधारणतः चारों आयु के बंध का कारण

एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयंति पकरेइ, तिरियाउयंपि पकरेइ, मणुस्साउयंपि पकरेइ देवाउयंपि पकरेइ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १, उ० ८, सू० ६३

अर्थ—एकान्तबाल (बिना शील और व्रत वाला) मनुष्य नरकायु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बांधता है, मनुष्य आयु भी बांधता है और देवायु का भी बंध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में तत् सम्बन्धी सूत्र

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।

—अ० ६ सू० १९

(६) **नाम कर्म**

नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। दोनों के बंधकारणों सम्बन्धी पाठ यह है—

सुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा ! कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीरजावप्पयोगबन्धे, असुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा !

से, असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तकों से, संयतासंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यात वर्ष की आयु वालों में से उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! तीनों में से ही अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

सरागसंयमसंयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।

सम्यक्त्वं च। —अ० ६ सू० २०-२१

साधारणतः चारों आयु के बंध का कारण

एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयंति पकरेइ, तिरियाउयंपि पकरेइ, मणुस्साउयंपि पकरेइ देवाउयंपि पकरेइ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १, उ० ८, सू० ६३

अर्थ—एकान्तबाल (बिना शील और व्रत वाला) मनुष्य नरकायु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बांधता है, मनुष्य आ भी बांधता है और देवायु का भी बंध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में तत् सम्बन्धी सूत्र

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।

० १६

(६) **नाम कर्म**

नामकर्म के दो प्रकार अ णों सम्बन्धी पाठ यह है—

सुभनामकम्मा सरीर यमा

भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए **जोगेण**

से, असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तकों से, संयतासंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यात वर्ष की आयु वालों में से उत्पन्न होते हैं ?

हे गौतम ! तीनों में से ही अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

सरागसंयमसंयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।

सम्यक्त्वं च। —अ० ६ सू० २०-२१

साधारणतः चारों आयु के बंध का कारण

एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयंति पकरेइ, तिरियाउयंपि पकरेइ, मणुस्साउयंपि पकरेइ देवाउयंपि पकरेइ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० १, उ० ८, सू० ६३

अर्थ—एकान्तबाल (बिना शील और व्रत वाला) मनुष्य नरकायु भी बाँधता है, तिर्यंच आयु भी बांधता है, मनुष्य आयु भी बांधता है और देवायु का भी बंध करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में तत् सम्बन्धी सूत्र

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।

—अ० ६ सू० १९

(६) **नाम कर्म**

नामकर्म के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। दोनों के बंधकारणों सम्बन्धी पाठ यह है—

सुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा ! कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीरजावप्पयोगबन्धे, असुभनामकम्मा सरीर पुच्छा ? गोयमा !

कायअणुज्जययाए जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पयोगवंधे।

—व्याख्याप्र० श० ८ उ० ६

अर्थ—शुभ नामकर्म का शरीर किस प्रकार प्राप्त होता है?

हे गौतम! काय की सरलता से, मन की सरलता से, वचन की सरलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति न करने से शुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगवंध होता है।

अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगवंध किस प्रकार होता है?

इसके विपरीत काय, मन तथा वचन की कुटिलता से तथा अन्यथा प्रवृत्ति करने से अशुभ नामकर्म के शरीर का प्रयोगवंध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के तत् सम्बन्धी पाठ

इनमें पहले अशुभ नामकर्म के वंध के अनन्तर शुभ नामकर्म के वंध का कारण संकेत किया गया है—

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न:। तद्विपरीतं शुभस्य।

—अ० ६, सू० २२, २३

नामकर्म में तीर्थङ्कर नाम का विशिष्ट स्थान है। अतः उसके वंध के भी विशिष्ट कारण हैं। वे विशेष कारण क्रमशः इस प्रकार वर्णित किये गये हैं।

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य तेंसि अभिक्खणाणोवओगे य॥१॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्व ए निरइयारं।
खण लव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥२॥

अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

—ज्ञाताधर्म० अ० ८ सू० ६४

अर्थ—अर्हद्‌भक्ति, सिद्धभक्ति, प्रवचनभक्ति, स्थविर (आचार्य)-भक्ति, वहुश्रुतभक्ति, तपस्वी-वत्सलता, निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, दर्शन का विशुद्ध रखना, विनय सहित होना, आवश्यकों का पालन करना, अतिचाररहित शील और व्रतों का पालन करना, संसार को क्षणभंगुर समझना, शक्ति अनुसार तप करना, त्याग करना, वैयावृत्य करना, समाधि करना, अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करना, शास्त्र में भक्ति होना, प्रवचन में भक्ति होना और प्रभावना करना—इन कारणों से जीव तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध करता है ।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्वन्धित सूत्र

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यवहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।

—अ० ६ सू० २४

(७) **गोत्रकर्म**

गोत्रकर्म के नीच और उच्च ये दो भेद हैं । उनमें से पहले नीचगोत्र के बंध कारणों का अनन्तर उच्चगोत्र के वन्ध कारणों का निर्देश करते हैं—

नीचगोत्र

जातिमदेणं कुलमदेणं वलमदेणं जाव इस्सरियमदेणं णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगवन्धे ।

—व्याख्या० श० ८, उ० ६ सू० ३५१

अर्थ—जाति के मद से, कुल के मद से, वल के मद से तथा अन्य मदों सहित ऐश्वर्य के मद से नीच गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगवन्ध होता है।

उच्चगोत्र

जातिअमदेणं कुलअमदेणं वलअमदेणं रूवअमदेणं तवअमदेणं सुयअमदेण लाभअमदेणं इस्सरियअमदेणं उच्चागोयकम्मा सरीरजाव पयोगवंधे।

—व्या० प्र० श० ८, उ० ६, सू० ३५१

जाति, कुल, वल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य का घमंड न करने से उच्च गोत्रकर्म के शरीर का प्रयोगवन्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के नीचगोत्र और उच्चगोत्र वन्ध सम्वन्धी पाठ

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।

—अ० ६, सू० २५, २६

(८) **अन्तराय कर्म**

दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगंतराएणं उवभोगंतराएणं वीरयंतराएणं अंतराइयकम्मा सरीरप्पयोगवन्धे।

—व्या० प्र०, श० उ० ६, सू० ३५१

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करने से अन्तराय कर्म के शरीर का प्रयोगवंध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र का सम्वन्धित पाठ

विघ्नकरणमन्तरायस्य।

—अ० ६ सू० २७

विशेष—यहाँ आगम सूत्रों और तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों द्वारा आठ कर्मों के बन्ध के विशेष कारणों का उल्लेख किया गया है। इन पाठों में तथा कर्मग्रंथों में प्रदर्शित कारणों में समानता और असमानता प्रतीत होने का कारण यह है कि कारणोल्लेख में मुख्यरूप में आगम सूत्रों का, कहीं उनके आशय का अवलंबन लेकर ग्रंथकारों ने अपनी-अपनी भाषा-शैली; वाक्य विन्यास, प्रयत्नलाघव आदि द्वारा बन्ध के कारणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसे कथन-शैली की भिन्नता समझा जाए। लेकिन मूल उद्देश्य और आशय तो आगमों के आधार से कर्मों के बंध कारणों का उल्लेख करना ही है। अतः भाषा-शैली का भेद प्रतीत होने पर भी उसमें मौलिक भेद नहीं समझना चाहिए। चूँकि कर्म विषयक वर्णन का मूल आधार तो आगया ही है।

☆

कर्मसाहित्य-विषयक समान-असमान मन्तव्य

सामान्यत: कर्म की बन्ध, उदय-उदीरणा और सत्ता की स्थिति एवं गुणस्थानों, मार्गणाओं में कर्मों के बंध आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिकों, कर्मग्रंथकारों और श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रंथों के विषय-प्रतिपादन में अधिकांश समानता दृष्टिगोचर होती है। यदि कथंचित् भिन्नता भी है तो वह जिज्ञासा की दृष्टि से कर्मविषयक गहन अध्ययन और मनन के लिए ग्राह्य मानकर 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध: के निकष पर परीक्षायोग्य है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्मग्रंथों में जीव शब्द की व्याख्या, उपयोग का स्वरूप, केवलज्ञानी के विषय में संज्ञित्व तथा असंज्ञित्व का व्यवहार, वायुकायिक शरीर की ध्वजाकारता, छाद्मस्थिक के उपयोगों का कालमान, भावलेश्या सम्बन्धी स्वरूप, दृष्टान्त आदि, चौदह मार्गणाओं का अर्थ, सम्यक्त्व की व्याख्या, क्षायिक सम्यकत्व, केवली में द्रव्यमन का होना, गर्भज मनुष्यों की संख्या के सूचक उन्तीस अंक, इन्द्रिय मार्गणा में द्वीन्द्रिय आदि का और कायमार्गणा में तेजस्काय आदि का विशेषाधिकत्व, वक्रगति में विग्रह की संख्या, गुणस्थान में उपयोग की संख्या, कर्मबंध के हेतुओं की संख्या दो, चार, पाँच होना, सामान्य तथा विशेष बन्धहेतुओं का विचार— के विषय समान रूप से प्राप्त होते हैं। दोनों की वर्णन शैली समान है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमें कुछ अंशों में भिन्नता होते हुए भी अधिक अंशों में समानता है।

इसके साथ ही कतिपय कथनों में भिन्नताएँ भी हैं, जिनका संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रकृतिभेद—इसमें प्रकृति शब्द के दो अर्थ किये गये हैं-(१) स्वभाव और (२)समुदाय। श्वेताम्बर कर्म साहित्य में उक्त दोनों ही अर्थ पाये जाते हैं[1] परन्तु दिगम्बर साहित्य में प्रकृति शब्द का स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। जैसे—'प्रकृति स्वभावः' प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।[2] 'पयडी सीले सहावो'[3] इत्यादि।

पद का प्रमाण—जिस शब्द के अन्त में विभक्ति आई हो या जितने भाग में अर्थ की समाप्ति हो, उसे पद कहते हैं। लेकिन पदश्रुत में पद का मतलव ऐसे पद से नहीं है, सांकेतिक पद से है। आचारांग आदि आगमों का प्रमाण ऐसे ही पदों से गिना जाता है। कितने श्लोकों का यह सांकेतिक पद माना जाता है, तादृश संप्रदाय के नष्ट हो जाने से इसका पता नहीं चलता है, यह कहीं टीका में लिखा है और कहीं यह भी लिखा मिलता है कि प्रायः ५१,०८,८६,८४० श्लोकों का एक पद होता है।

---

१. प्रकृतिस्तु स्वभावःस्याद् ज्ञानवृत्यादि कर्मणाम्।
यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थिति कालविनिश्चयः॥
—लोकप्रकाश, सर्ग १०, श्लोक १३७

ठिइवंधदलस्सं ठिइ पएस वंधो पएसगहणंच।
तणरसो अणुभागो तस्समुदायो पगइवंधो॥
यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वभाव अर्थ में अनुभाग वंध का मतलव कर्म की फलजनकशक्ति की शुभाशुभता तथा तीव्रता मंदता से ही है, परन्तु समुदाय अर्थ में अनुभाग वंध से कर्म की फलजनक शक्ति और उसकी शुभाशुभता तथा तीव्रता-मंदता इतना अर्थ विवक्षित है।

२. तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८, सूत्र ३, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक टीका।

३. गोम्मटसार कर्मकांड गा० २

दिगम्बर साहित्य में भी पदश्रुत में पद शब्द का सांकेतिक अर्थ लिया गया है। आचारांग आदि का प्रमाण ऐसे ही पदों से उसमें भी माना गया है। परन्तु उसमें यह विशेषता देखी जाती है कि जहाँ श्वेताम्बर साहित्य में पद के प्रमाण के सम्बन्ध में सब आचार्य आम्नाय का विच्छेद दिखाते हैं, वहाँ दिगम्बर साहित्य में पद का प्रमाण स्पष्ट लिखा पाया जाता है। वहाँ १६३४ करोड़ ८३ लाख ७ हजार, ८८८ अक्षरों का एक पद माना है[1] जो बत्तीस अक्षरों का एक श्लोक मानने पर उतने अक्षरों के ५१,०८,८४,६२।। प्रमाण होते हैं।

इस प्रमाण में तथा श्वेताम्बर साहित्य में कहीं-कहीं बताये गये पद प्रमाण के सम्बन्ध में एकवाक्यता ही प्रतीत होती है।

मनःपर्यायज्ञान का ज्ञेय (विषय)—इस सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख पाया जाता है। पहले में लिखा है कि मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्याय ज्ञान से दूसरों के मन में अवस्थित पदार्थ— चिन्त्यमान पदार्थ को जानता है और दूसरे उल्लेख में कहा है कि मनःपर्याय ज्ञान से चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं होता, किन्तु विचार करने के समय मन की जो आकृतियाँ होती हैं, उन्हीं का ज्ञान होता है और चिन्त्यमान वस्तु का ज्ञान पीछे से अनुमान द्वारा होता है। पहला उल्लेख दिगम्बर साहित्य[2] का है और दूसरा उल्लेख श्वेताम्बर साहित्य[3] का है।

---

१. गोम्मट सार, जीव कांड गाथा ३३५। २. सर्वार्थसिद्धि टीका पृ० १२४, राजवार्तिक पृ० ७४८—गोम्मटसार जीवकांड गा० ४३७-४४७।

३. तत्त्वार्थ०, अ० १, सूत्र २४ टीका। आवश्यक गा० ७६ की टीका। विशेषावश्यक भाष्य पृ० ३६०, गा० ८१३-८१४। लोकप्रकाश सं० ३, श्लोक ८४९ से।

अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान की उत्पत्ति—इसके सम्बन्ध में दिगम्वर साहित्य में जो उल्लेख है, वह श्वेताम्वर साहित्य में देखने में नहीं आया है।

अवधिज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दिगम्बरीय साहित्य का मंतव्य यह है कि अवधिज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन्हीं प्रदेशों से होती है, जोकि शंख आदि शुभ चिह्न वाले अंगों में वर्तमान होते हैं। मनःपर्यायज्ञान की उत्पत्ति आत्मा के उन प्रदेशों से होती है, जिनका सम्वन्ध द्रव्यमन के साथ है, अर्थात् द्रव्यमन का स्थान हृदय ही है, अर्थात् हृदय भाग में स्थित आत्मा के प्रदेशों में ही मनःपर्यायज्ञान का क्षयोपशम है।[1]

द्रव्यमन—इसके लिए जो कल्पना दिगम्बर साहित्य में है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं है। दिगम्वर साहित्य में इस प्रकार कहा गया है—द्रव्यमन हृदय में ही है। उसका आकार आठपत्र वाले कमल का-सा है। वह मनोवर्गणा के स्कन्धों से वनता है। उसके वनने में अन्तरंगकारण अंगोपांगनामकर्म का उदय है।[2]

मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेद—मिथ्यात्व मोहनीय के तीन भेदों—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिश्र—की कल्पना के लिए श्वेताम्वर साहित्य में कोदों के छाछ से धोये और भूसे से रहित शुद्ध (सम्यक्त्व) भूसे सहित और न धोये हुए अशुद्ध (मिथ्यात्व) और कुछ धोये हुए और कुछ न धोये हुए मिले को अर्धविशुद्ध (मिश्र) माना है। लेकिन दिगम्वर साहित्य में चक्की से दले हुए कोदों में से जो भूसे के साथ हैं वे अशुद्ध (मिथ्यात्व), जो भूसे से विलकुल रहित है, वे शुद्ध (सम्यक्त्व)

१. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा ४४२,
२. गोम्मटसार जीवकांड गाथा ४४१

और कण (अर्द्ध विशुद्ध—मिश्र) माने गये हैं और प्राथमिक उपशम सम्यक्त्व परिणाम (ग्रंथिभेदजन्य सम्यक्त्व) जिससे मोहनीय के दलिक शुद्ध होते हैं, उसे चक्की स्थानीय माना गया है।[1]

कषायों की उपमा—कर्मग्रन्थ में और गोम्मटसार जीवकांड गाथा २८६ में कषायों को जिन-जिन पदार्थों की उपमा दी गई है, वे सब एक-से ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि गोम्मटसार में प्रत्याख्याना-वरण लोभ के लिए शरीर के मैल की उपमा दी है और कर्मग्रन्थ में काजल की उपमा दी है।

अपवर्त्य आयु—कर्मग्रन्थ गाथा २३ की व्याख्या में अपवर्त्य आयु का स्वरूप बताया गया है। जिसमें इस मरण को अकाल मरण कहा गया है और गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५७ में 'कदलीघात मरण' कहा है। यह 'कदलीघात' शब्द अकाल मृत्यु के अर्थ में अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है।

आठ कर्मों का क्रम—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के कथन क्रम की उत्पत्ति श्वेताम्बर ग्रन्थ पंचसंग्रह की टीका, कर्मविपाक की टीका, जयसोमसूरिकृत टब्बा और जीवविजयजीकृत बालावबोध में इस प्रकार बताई है—

उपयोग, यह जीव का लक्षण है। इसके ज्ञान और दर्शन, ये दो भेद हैं। उनमें ज्ञान प्रधान माना जाता है। ज्ञान से ही किसी शास्त्र का विचार किया जा सकता है। जब कोई लब्धि प्राप्त होती है, तब जीव ज्ञानोपयोग युक्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति भी ज्ञानोपयोग के समय होती है। अतः ज्ञान के आवरणभूत कर्म—ज्ञानावरण का कथन सबसे

---

१. गोम्मटसार, कर्मकांड, गाथा २६

पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति जीवों के ज्ञान के अनन्तर होती है, इसी से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण कर्म का कथन किया गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा इनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है, इसलिए उन दोनों के बाद वेदनीय कर्म का कथन किया गया है। वेदनीय कर्म के अनन्तर मोहनीय कर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो आता है। मोहनीय के अनन्तर आयु कर्म का पाठ इसलिए है कि मोह व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बंध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ, उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने ही पड़ते हैं। इसी को बताने के लिए आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीच गोत्र का विपाक भोगना पड़ता है, इसी से नाम के वाद गोत्र कर्म का कथन है। उच्च गोत्र वालों को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्रविपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को वताने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तराय कर्म का निर्देश किया गया है।

दिगम्वर ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में अष्ट कर्मों के कथन-क्रम-विषयक उपपत्ति लगभग पूर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य वात यह है कि अन्तरायकर्म घाती होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मों की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय नाम आदि अघाति कर्मों के निमित्त से होता है तथा वेदनीय कर्म अघाति होने पर भी उसका पाठ घाति कर्म के बीच इस-

लिए किया गया है कि वह घाति कर्म की तरह मोहनीय कर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है।

कर्मप्रकृतियों के नाम विषयक—दोनों परम्पराओं में अष्ट कर्म की प्रकृतियों के नाम लगभग समान ही हैं। कुछ नाम ऐसे हैं, जिनके लिए किंचित् परिवर्तन देखा जाता है—

श्वेताम्बर	दिगम्बर
सादि संस्थान	स्वाति संस्थान
कीलिका संहनन	कीलित संहनन
सेवार्त संहनन	असंप्राप्तासृपाटिक संहनन
ऋषभनाराच संहनन	वज्रनाराच संहनन

कर्म प्रकृतियों की परिभाषा विषयक—श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्म साहित्य में कर्म प्रकृतियों की परिभाषाओं में अधिक अंशों में समानता है। दोनों में कुछ एक प्रकृतियों की परिभाषा में जो भिन्नता दिखती है, उनके नाम और परिभाषाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

[अग्रिम पृष्ठ पर देखिए]

पहले किया गया है। दर्शन की प्रवृत्ति जीवों के ज्ञान के अनन्तर होती है, इसी से ज्ञानावरण के बाद दर्शनावरण कर्म का कथन किया गया है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दोनों कर्मों के तीव्र उदय से दुःख का तथा इनके विशिष्ट क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है, इसलिए उन दोनों के बाद वेदनीय कर्म का कथन किया गया है। वेदनीय कर्म के अनन्तर मोहनीय कर्म के कहने का आशय यह है कि सुख-दुख वेदने के समय अवश्य ही राग-द्वेष का उदय हो आता है। मोहनीय के अनन्तर आयु कर्म का पाठ इसलिए है कि मोह व्याकुल जीव आरम्भ आदि करके आयु का बंध करता ही है। जिसको आयु का उदय हुआ, उसे गति आदि नामकर्म भी भोगने ही पड़ते हैं। इसी को बताने के लिए आयु के पश्चात् नामकर्म का उल्लेख है। गति आदि नामकर्म के उदय वाले जीव को उच्च या नीच गोत्र का विपाक भोगना पड़ता है, इसी से नाम के वाद गोत्र कर्म का कथन है। उच्च गोत्र वालों को दानान्तराय आदि का क्षयोपशम होता है और नीच गोत्रविपाकी जीवों को दानान्तराय आदि का उदय रहता है—इसी आशय को वताने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तराय कर्म का निर्देश किया गया है।

दिगम्बर ग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में अष्ट कर्मों के कथन-क्रम-विषयक उपपत्ति लगभग पूर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य वात यह है कि अन्तरायकर्म घाती होने पर भी सबसे पीछे अर्थात् अघाति-कर्म के पीछे कहने का आशय इतना ही है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघाति कर्मों की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय नाम आदि अघाति कर्मों के निमित्त से होता है तथा वेदनीय कर्म अघाति होने पर भी उसका पाठ घाति कर्म के बीच इस-

लिए किया गया है कि वह घाति कर्म की तरह मोहनीय कर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है।

कर्मप्रकृतियों के नाम विषयक—दोनों परम्पराओं में अष्ट कर्म की प्रकृतियों के नाम लगभग समान ही हैं। कुछ नाम ऐसे हैं, जिनके लिए किंचित् परिवर्तन देखा जाता है—

श्वेताम्बर	दिगम्बर
सादि संस्थान	स्वाति संस्थान
कीलिका संहनन	कीलित संहनन
सेवार्त संहनन	असंप्राप्तास्रपाटिक संहनन
ऋषभनाराच संहनन	वज्रनाराच संहनन

कर्म प्रकृतियों की परिभाषा विषयक—श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्म साहित्य में कर्म प्रकृतियों की परिभाषाओं में अधिक अंशों में समानता है। दोनों में कुछ एक प्रकृतियों की परिभाषा में जो भिन्नता दिखती है, उनके नाम और परिभाषाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

[अग्रिम पृष्ठ पर देखिए]

	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१. अनादेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य न हों, अर्थात् हितकारी वचनों को भी लोग प्रमाण रूप न मानें और अनादर करें।	जिसके उदय से शरीर में प्रभा न हो।
२. अस्थिर नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सिर, हड्डी, दाँत, जीभ, कान आदि अवयवों में अस्थिरता आती है, चंचल रहें।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु स्थिर न रहें और थोड़ा-सा भी कष्ट न सहा जा सके।
३. अशुभ नामकर्म	जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के अवयव पैर आदि अशुभ हों।	जिस कर्म के उदय से शरीर अवयव सुन्दर न हों।
४. आदेय नामकर्म	जिसके उदय से जीव के वचनादि सर्वमान्य हों, लोग प्रमाणभूत समझकर मानते हों और सत्कार करते हों।	जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त हो।

५.	आनुपूर्वी नामकर्म	जिस कर्म के उदय से सम-श्रेणी से गमन करता हुआ जीव विश्रेणी गमन करके उत्पत्ति स्थान में पहुँचे।	जिसके उदय से विग्रह गति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बना रहे।
६.	गति नामकर्म	जिसके उदय से जीव को मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायों की प्राप्ति हो।	जिसके उदय से जीव भवान्तर को जाता है।
७.	जुगुप्सा	जिसके उदय से जीव को गंदी वस्तुओं पर घृणा या ग्लानि हो।	जिसके उदय से जीव अपने दोष छिपावे और पर के दोष प्रकट करे।
८.	निद्रा (दर्शनावरण)	जिसके उदय से हल्की नींद आये, सोता हुआ जीव जरा-सी आवाज में उठाया जा सके।	जिसके उदय से जीव चलता-चलता खड़ा रह जाए और गिर जाए।
९.	निर्माण नामकर्म	अंगोपांगों को अपने अपने स्थान पर व्यवस्थित करना।	इसके स्थान-निर्माण और प्रमाण निर्माण-ऐसे दो भेद करके इनका कार्य अंगोपांगों को यथा-स्थान व्यवस्थित करने के उपरान्त

क्रम	प्रकृति नाम	श्वेताम्बर	दिगम्बर
			उनको प्रमाणोपेत वनाना भी माना है।
१०.	परघात नामकर्म	जिसके उदय से दूसरे बलवानों के द्वारा भी अजेय हो।	जिसके उदय से दूसरों का घात करने वाले शरीर के अवयव उत्पन्न हों। दाढ़ों में विष आदि हो।
११.	प्रचला	जिसके उदय से खड़े-खड़े या बैठे-बैठे नींद आये।	जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता-सा रहे।
१२.	प्रचला-प्रचला	जिसके उदय से मनुष्य को चलते-चलते भी नींद आये।	जिसके उदय से सोते में जीव के हाथ-पैर भी चलें और मुँह से लार भी गिरे।
१३.	यशःकीर्ति नामकर्म	जिसके उदय से दान, तप आदि जनित यश फैले। अथवा एक दिशा में फैलनेवाली ख्याति को यश और सर्वदिशाओं में मिलने वाली ख्याति को कीर्त्ति कहते हैं।	जिसके उदय से संसार में यश फैले और गुणों का कीर्तन हो।

१४. शुभ नाम कर्म	जिस कर्म के उदय के नाभि के ऊपर के अवयव शुभ हों।	जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव रमणीय हों।
१५. सम्यक्त्व प्रकृति	जिस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्व की श्रद्धा न करे।	जिस कर्म के उदय से सम्यग्-दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लगें।
१६. सम्यग्मिथ्यात्व	जिस कर्म के उदय से जीव के जिन धर्म में न राग हो और न द्वेष हो।	जिसके उदय से जीव के तत्त्व और अतत्त्व श्रद्धानुरूप दोनों प्रकार के भाव हों।
१७. स्थिर नामकर्म	जिसके उदय से दाँत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर रहें।	जिसके उदय से शरीर के धातु-उपधातु अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें। जिससे उपसर्ग, तपस्या आदि अन्य कष्ट सहन किये जा सकते हैं।
१८. शरीर के संयोगी भेद	पांचों शरीर सम्वन्धी वन्धन नाम कर्म के संयोगी भेद पन्द्रह होते हैं।	पाँचों शरीर के संयोगी भेद पन्द्रह होते हैं।

पृष्ठ २ पर आगत अष्ट महाप्रातिहार्यादि से सम्बन्धित चित्र।
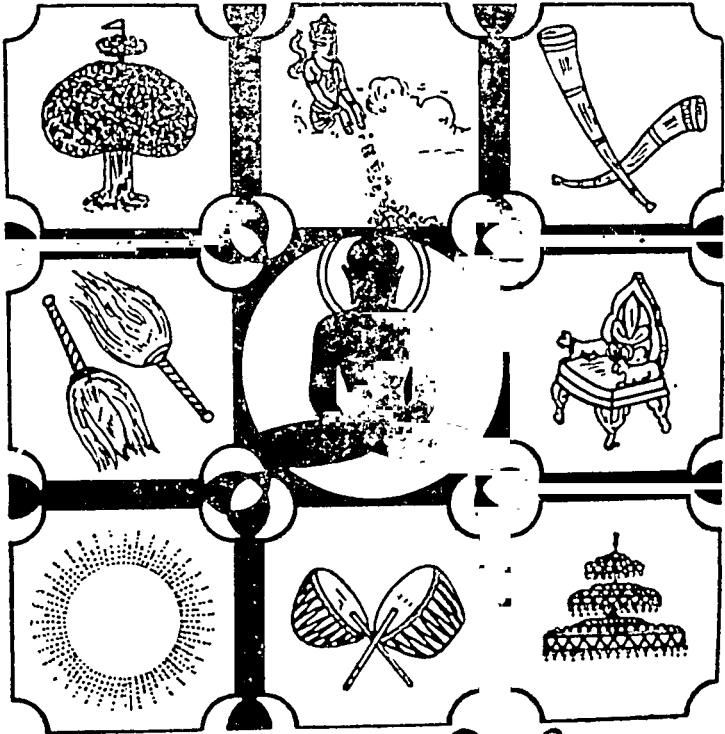
अष्ट महाप्रातिहार्य

समवसरण

गाथा ३८ से ४० [पृष्ठ १२४ से १२७] में संघयण एवं संस्थान के ६-६ भेद बताये हैं। उनको स्पष्ट करने वाले चित्र देखिए—

संघयण का चित्र

संस्थान का चित्र

४ शा० चम्पालाल जी डूंगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)

५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)

६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावंडिया)

७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर बेंगलोर ११ (पुजलू)

८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर

९ शा० वालचंद जी रूपचन्द जी वाफना,
११८/१२० जवेरीबाजार बम्बई—२ (सादड़ी)

१० शा० वालावगस जी चम्पालाल जी वोहरा, राणीवाल

११ शा० केवलचन्द जी सोहनराज जी बोहरा राणीवाल

१२ शा० अमोलकचन्द जी धर्मीचन्द जी आच्छा, वड़ीकांचीपुरम् मद्रास, (सोजतरोड)

१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर, मद्राम (आगेवा)

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादड़ी)

१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)

१६ शा० सिमरतमल जी संखलेचा, मद्रास (वीजाजी का गुड़ा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)

१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास

१९ शा० चम्पालाल जी नेमीचन्द, जवलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)

२२ शा० हीराचन्द जी लालचन्द जी धोका, नक्सावाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचन्द जी धर्मीचन्द जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास

२४ शा० एच० घीसुलाल जी पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T. (वगड़ी-नगर)

२५ शा० गीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चांगलपेट, मद्रास

२६ शा० अमोलकचन्द जी भंवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास
२७ शा० पी० बीजराज नेमीचन्द जी धारीवाल, तीरुवेलूर
२८ शा० रूपचन्द जी माणकचन्द जी बोरा, बुशी
२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, बुशी
३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा कुंभकोणम्, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर, मद्रास
३३ शा० वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजतसिटी
३४ शा० गेवरचन्द जी जसराज जी गोलेछा, वैंगलोरसिटी
३५ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी वंव, वैंगरलोरसिटी
३६ शा० एम० मंगलचन्द जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मंगलचन्द जी दरडा C/o मदनलालजी मोतीलाल जी, शिवराम पैठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचन्द जी धारीवाल, N. क्रास रोड, राबर्टसन पेठ, K.G.F.
३९ शा० चम्पालाल जी प्रकाशचन्द जी छलाणी नं० ५७ नगरथ पैठ, बैंगलूर-२
४० शा० आर. विजयराज जांगड़ा, नं० १ क्रासरोड, रावर्टसन पेट K.G.F.
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, रविवार पैठ ११५३, पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़, पोट-मार्केट, सिकन्द्राबाद—A.P.
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीलाल जी आच्छा, वालाजावाद-मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गांधीचौक रायचूर
४५ श्री वस्तीमल जी वोहरा C/o सीरेमल जी वुलाजी गाणों की गली उदयपुरिया वाजार, पाली
४६ श्री सुकनराज जी भोपालचन्द जी पगारिया, चिकपेट वैंगलोर—५३
४७ श्री विरदीचन्द जी लालचन्द जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचन्द जी वोहरा, मद्रास (वर)

४६ श्री भंवरलाल जी जवरचन्द जी दूगड़, कुरडाया

५० शा० मदनचन्द जी देवराज जी दरड़ा, १२ रामानुजम् अयर स्ट्रीट मद्रास १

५१ शा० सोहनलाल जी दुगड़, ३७ कालाती पीले-स्ट्रीट, साहुकार पेट, मद्रास-१

५२ शा० धनराज जी केवलचन्द जी, ५ पुडुपेट स्ट्रीट, आलन्दुर, मद्रास १६

५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाऊस नं १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वां क्रोस आरकाट श्रीनीवासचारी रोड, पो० ७६४४, बेंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्रर कुमार जी गुलावचन्द जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उतमचन्दजी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० कांकरिया २६६, O.P.H. रोड बेंगलोर १

५७ शा० सन्तोकचन्द जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू वाजार न० १६ श्रीनीवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५६ मदनलाल जी रांका (वकील) व्यावर

६० पारसमल जी रांका C/o वकील भंवरलाल जी रांका व्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोंडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६६ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्तार-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचन्द जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचन्द जी जैन, वापुजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुदुपेट मद्रास २

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचन्द जी श्रीश्रीमाल, व्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचन्द जी संकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचन्द जी नम्वरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचन्द जी रातड़िया, रावर्टसनपैठ
५ श्री वगतावरमल जी अचलचन्द जी खींवसरा ताम्वरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जी सायवचन्द जी खींवसरा, वौपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली
८ श्री माणकचन्द जी गुलेछा, व्यावर
९ श्री पुखराज जी वोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचन्द जी वोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चंडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड़ जंक्शन
१४ श्री रतनचन्द जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, विलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी नेमीचन्द जी कटारिया, विलाड़ा
१७ श्री गुलावचन्द जी गंभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जि० थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचन्द जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचन्द जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोकचन्द जी जवरीलाल जी जामड़,
१४६ वाजार रोड, मदरानग़तम

२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्

२३ श्री धरमीचन्द जी ज्ञानचन्द जी मूथा, बगड़ीनगर

२४ श्री मिश्रीमल जी नगराज जी गोठी, बिलाड़ा

२५ श्री दुलराज इन्दरचन्द जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदलीस्ट्रीट, मद्रास-१

२६ श्री गुमानलाल जी मांगीलाल जी चौरड़िया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१

२७ श्री सायरचन्द जी चौरड़िया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१

२८ श्री जीवराज जी जवरचन्द जी चौरड़िया, मेड़तासिटी

२९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया, १६२ कोयम्बतूर, मद्रास

३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली

३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आछा, मु० कावेरी पाक

३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी संचेती, जोधपुर

३३ श्री चम्पालाल जी भंवरलाल जी सुराना, कालाऊना

३४ श्री मांगीलाल जी शंकरलाल जी भंसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-११

३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजाररोड रायपेठ मद्रास-१४

३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम

३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुड़ा

३९ शा० संपतराज जी चौरड़िया, मद्रास

४० शा० पारसमल जी कोठरी, मद्रास

४१ शा० भीकमचन्द जी चौरड़िया, मद्रास

४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे

४३ शा० जब्बरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, ब्यावर

४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादीया, लांबिया

४५ श्री सेंसमल जी धारीवाल, वगड़ीनगर (राज०)

४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१

४७ उदयचन्द जी नोरतमल जी मूथा
c/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा, मेवाड़ी वाजार व्यावर

४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)

४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-वाजार रोड, मद्रास

५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, वम्वई-३

५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, वेंगलोर

५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजेड़, मद्रास

५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११

५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ललवाणी, मद्रास-१४

५५ श्री लालचन्द जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर

५६ श्री सुगनराज जी गौतमचन्द जी जैन, तमिलनाडु

५७ श्री के० मांगीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६

५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२

५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, वैंगलूर-१

६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी सांखला, तीरुवल्लुर

६१ श्री पुकराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावंडिया

६२ श्री भंवरलाल जी प्रकाशचन्द जी वग्गाणी, मद्रास

६३ श्री रूपचन्द जी वाफणा चंडावल

६४ श्री पुखराज जी रिखवचन्द जी रांका, मद्रास

६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चोरडिया, [illegible]

६६ श्री भीखमचन्द जी शोभागचन्द जी [illegible], [illegible]

६७ श्री जैवंतराज जी सुगनचन्द जी [illegible], [illegible] ([illegible])

६८ श्री घेवरचन्द जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली

६९ शा० नेमीचंदजी कोठारी नं० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास १

७० शा० मांगीलालजी सोहनलालजी रातडीया C/० नरेन्द्र एथर्टरी कस स्टोर चीकपेट, बेंगलोर ४

७१ शा० जवरीलालजी सुराणा अलन्दुर, मद्रास १६

७२ शा० लुमचन्दजी मंगलचन्दजी तालेड़ा अशोका रोड मैसूर

७३ शा० हंसराजजी जसवन्तराजजी सुराणा मु० पो० सोजत सिटी

७४ शा० हरकचन्दजी नेमीचन्दजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० ईगतपुरी (नासिक महाराष्ट्र)

७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलों का वास. मु० पो० जालोर

७६ शा० वी० सजनराजजी पीपाड़ा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)

७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे नं० ४५८९७७/१४१ भवानी शंकर रोड वीसावा बिल्डिग दादर बोम्बे नं० २८

७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)

७९ सा० कीसोरचन्दजी चांदमलजी सोलंकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53.

८० शा० निरमलकुमारजी मांगीलालजी खींवसरा ७२ धनजी स्ट्रीट पारसीगली, गनपत भवन, बम्वई ३

८१ श्रीमती सोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास

८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरतावाद हैदराबाद ५००००४ (A. P.)

८३ शा० मुगालचन्दजी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस मद्रास ५२

८४ शा० जवरीलालजी लुंकड़ (कोटडी) C/० घमडीराम सोहनराज अन्ड कं० ४८९/२ रेवडी बाजार अहमदाबाद २

८५ शा० गोतमचन्दजी नाहटा (पीपलीया) नं० ८, वादु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १

८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलंका बेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड़ मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट, कोयम्वतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्राबाद (A. P.)

८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास बाजार दूकान नं० ६, कुनूर (नीलगिरी)

९० सा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलंकी मु० पोस्ट रांणा वाया पाली (राजस्थान)

९१ सा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/० लक्ष्मी इलक्ट्रीकल्स नं० ९५ नेताजी सुभाषचन्द रोड मद्रास १

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचन्द जी कर्णावट, जोधपुर

२ श्री गजराज जी भंडारी, जोधपुर

३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी वोहरा, व्यावर

४ श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन

५ सुमेरमल जी गांधी, सिरियारी

६ श्री जवरचन्द जी वम्व, सिन्धनूर

७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर

८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी रांका, व्यावर
९ श्री पारसमाल जी जवरीलाल जी धोका,सोजत
१० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी बोहरा, व्यावर
११ श्री चनणमल जी थानमल जी खींवसरा, मु० वोपारी
१२ श्री पन्नालाल जी भंवरलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री अनराज जी लिखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी जांगड़, बिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धरमीचन्द जी खारीवाल, कुशालपुरा
१७ श्री जवरचन्द जी शान्तिलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्द जी गुन्देचा, सोजतरोड
१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी साकरिया, सांडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी साकरिया, सांडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचन्द जी वरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मांगीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजतरोड
२३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भंसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी वोकड़िया, पाली
२६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी वोहरा, व्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भंवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, सांडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, सांडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शांतिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३२ श्री विजयराज जी आणंदमल जी सीसोदिया, इन्द्रावड़

३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूंकड़, विग-वाजार, कोयम्वतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उड़ीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी, वाजार स्ट्रीट, मन्डिया
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी काँकरिया, मद्रास (मेड़तासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिवचन्द जी गाँधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी वादलचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसींग जी ढावरिया, गुलावपुरा
४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, वगड़ीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचंद जी कांठेड व्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खींवसरा, वैंगलौर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
४७ शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास
४८ शा० वनेचन्द जी हीराचन्द जी जैन, सोजतरोड, (पाली)
४९ शा० झूमरमल जी मांगीलाल जी गूंदेचा, सोजतरोड (पाली)
५० श्री जयन्तीलाल जी सागरमल जी पुनमिया, सादड़ी
५१ श्री गजराज जी भंडारी एडवोकेट, वाली
५२ श्री मांगीलाल जी रैंड, जोधपुर
५३ श्री ताराचन्द जी वम्व, व्यावर
५४ श्री फतेहचन्द जी कावड़िया, व्यावर
५५ श्री गुलावचन्द जी चोरड़िया, विजयनगर
५६ श्री सिंधराज जी नाहर, व्यावर
५७ श्री गिरधारीलाल जी कटारिया, सहवाज

५८ श्री मीठालाल जी पवनकंवर जी कटारिया, सहवाज

५९ श्री मदनलाल जी सूरेन्द्रराज जी ललवाणी, विलाड़ा

६० श्री विनोदीलाल जी महावीरचन्द जी मकाणा, ब्यावर

६१ श्री जुगराज जी सम्पतराज जी बोहरा, मद्रास

६२ श्री जीवनमल जी पारसमल जी रेड, तिरुपति (आ० प्रदेश)

६३ श्री वकतावरमल जी दानमल जी पूनमिया, सादड़ी (मारवाड़)

६४ श्री मै० चन्दनमल पगारिया, औरंगावाद

६५ श्री जवंतराज जी सज्जनराज जी दुगड़, कुरड़ाया

६६ श्री वी० भंवरलाल जैन, मद्रास (पाटवा)

६७ श्री पुखराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, वेडकलां

६८ श्री आर० प्रसन्नचन्द चोरड़िया, मद्रास

६९ श्री मिश्रीलाल जी सज्जनलाल जी कटारिया, सिकन्द्रावाद

७० श्री मुकनचन्द जी चांदमल जी कटारिया, इलकल

७१ श्री पारसमल जी कांतीलाल जी वोरा, इलकल

७२ श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी जैन (पाली) वैंगलूर

७३ शा० जी० एम० मङ्गलचन्दजी जैन (सोजतसिटी) C/० मङ्गल टेक्स-टाईलस २६/७८ फर्स्ट फ्लोर मूलचन्द मारकेट गोडाउन स्ट्रीट, मद्रास १

७४ श्रीमती रतनकंवर धर्मपत्नी शांतीलालजी कटारीया C/० पृथीराजजी प्रकाशचन्दजी, फतेपुरीयों की पोल मु० पो० पाली (राज०)

७५ शा० मंगराज जी रूपचंदजी खींवसरा C/o रूपचंद-विमलकुमार पो० पेरमपालम; जिला चंगलपेट

७६ सा० माणकचंदजी भंवरीलाल जी पगारीया C/o नेमीचंद मोहनलाल जैन १७ विन्नी मिल रोड वेंगलोर ५३

७७ शा० ताराचंद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई वाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भंडारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचंदजी पोकरणा १९ गोडाऊन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचंदजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचंद जैन—४०३।७ बाजार रोड रेडीलस—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरूंदा वाया पीपाड़ सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहार C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चीकपेट, बेंगलौर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचंद नथमल जैन० No० ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—बेंगलौर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरीया सामराज पेट नं० ९८।७ कीरोस रोड, बेंगलोर १८

८५ शा० मंगलचंदजी नेमीचंदजी बोहरा C/o भानीराम गणेसमल एन्ड संस H० ५६ खलास पालीयम बेंगलोर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरीया जी० १२९ मीलरोड बेंगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचंदजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचंदजी सींगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—हैदरगुड़ा ३।६।२९४।२।३ हैदराबाद (A.P.)

८९ शा० गणेशमलजी लालचन्दजी पीतलीया C/o हीराचंद हस्तीमल १।८।६५ चीकड़पली हैदराबाद ५०००२० (A. P.)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी डबल्यु पचास कीचयालेन काटन पेट बेंगलौर—५३

९१ शा० वी० पारसमलजी सोलंकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ शा० कुसालचंदजी रीखवचंदजी सुराणा ७२९ सदरबजार बोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा मु० पो० वोपारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डंक (सारन) C/o सायबचंदजी पारसमल जैन म० न० १२।५।१४८ मु० पो० लालागुड़ा सिकन्द्राबाद (A. P.)

९५ शा० सोभाचन्दजी प्रकाशचंदजी गुगलीया C/o जुगराज हीराचंद एन्ड कं० मन्डीपेट—दावनगिरी—कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभारानीजी रांका C/o भवरलालजी रांका मु० पो० व्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी रांका C/o वकील भवरलालजी रांका मु० पो० व्यावर

९८ शा० जम्बुकुमार जैन दालमील भैंरों बाजार बेलनगंज आगरा—४

९९ शा० सोहनलालजी-मेड़तीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

☆ ०—० ☆